डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध

सम्पादक

भारतभूषण अग्रवाल

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली



मूल्य : पाँच रुपये

प्रथम संस्करण : मार्च १९६२

प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली

मुद्रक : युगान्तर प्रेस दिल्ली

DR. NAGENDRA KE SARVASHRESHTHA NIBANDHA : ESSAYS

आभार-स्वीकृति

विश्वनाथ जी की बहुत दिनों से इच्छा थी कि मेरे निबन्धों का कोई प्रतिनिधि संकलन प्रकाशित किया जाय। श्री भारतभूषण अग्रवाल ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इन निबन्धों का चयन विस्तृत भूमिका के साथ प्रस्तुत कर उनकी इच्छा-पूर्ति ही नहीं की वरन् मुझे भी उपकृत किया है। फिर भी यह संकलन श्री कन्हैयालाल के सौजन्य के बिना प्रकाशित नहीं हो सकता था। मैं इन तीनों मित्रों के प्रति आभार व्यक्त करता हूं।

प्रस्तुत निबन्धों का चयन नेशनल पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित मेरे चार निबन्ध-संग्रहों से किया गया है (१) विचार और अनुभूति (२) विचार और विवेचन (३) विचार और विश्लेषण (४) अनुसंधान और आलोचना।

दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली।

—नगेन्द्र

विषय-क्रम

डा० नगेन्द्र व्यक्तित्व और कृतित्व

डा० नगेन्द्र से मेरा पहला परिचय आज से लगभग पच्चीस वर्ष पहले हुआ था। सन् १९३६ के आस-पास की बात है। मैं उन दिनों चंदौसी में इण्टरमीडिएट-इन-कॉमर्स की शिक्षा ले रहा था और छायावादी कवियों की अनुकृति पर थोड़ी-बहुत तुक-बन्दियाँ करने लग गया था। मेरे बड़े भाई (श्री विद्याभूषण अग्रवाल) सेण्ट जॉन्स कॉलेज आगरा में बी० ए० के विद्यार्थी थे। गर्मियों की छुट्टियों में जब वे घर आए तो अपने साथ एक कविता की किताब भी लाए जो शायद स्वर्गीया पुष्पावती की रचनाओं का संग्रह था। उसपर बड़े ही लम्बे-पतले सुडौल-कोमल घुमावदार हस्तलेख में एक नाम लिखा था नगेन्द्र। मैंने कौतूहलवश भैयाजी से उनका परिचय पूछा तो उन्होंने बताया कि वे उन्हीं के कॉलेज में एम० ए० (अंग्रेजी) के विद्यार्थी हैं, बड़े भावुक हैं और छायावादी कविताएं लिखते हैं। मुझे अभी तक याद है मैंने उस हस्तलेख के सहारे अपने मन में नगेन्द्रजी का एक कल्पना-चित्र भी बनाया था और उनसे मिलने और परिचित होने का सहज कौतूहल भी अनुभव किया था।

सन् १९४० में मैं भी बी० ए० की शिक्षा के लिए सेण्ट जॉन्स कॉलेज आगरा में भर्ती हुआ। यद्यपि तब तक नगेन्द्रजी अपनी शिक्षा समाप्त कर आगरा छोड़ चुके थे फिर भी बीच-बीच में उनकी चर्चा सुनाई पड़ती रहती थी। श्रद्धेय बाबू गुलाबराय साहित्य-रत्न-भण्डार के तेजस्वी अध्यक्ष श्री महेन्द्र और पूज्य गुरुदेव श्री सत्येन्द्र के मुख से उनकी प्रशंसा बराबर सुनता रहता था। बीच-बीच में उठने वाली इन चर्चाओं से उनके बारे में मेरा कौतूहल जगता रहता था।

तभी एक दिन उनके दर्शन हुए। मैं सोचता हूं सन् ४८ के अन्त की बात होगी। हरिऔध-कप-काव्य-प्रतियोगिता में एक प्रतियोगी मैं भी था। सेण्ट जॉन्स कॉलेज की दिनचर्या में यह अवसर साहित्य की दृष्टि से वर्ष का सबसे बड़ा पर्व होता था। उस बार डा० नगेन्द्र भी उस समारोह में उपस्थित थे।

कह नहीं सकता कि प्रतियोगिता के निर्णायकों में थे या सम्भाव्य 'मोरल बॉस' के नाते वहां आए थे। पर वे मंच पर बैठे थे। और प्रतियोगियों का काव्य पाठ समाप्त हो जाने के बाद निर्णायकों को विचार का समय देने की गरज से अध्यक्ष ने उनसे निवेदन किया कि वे भी अपनी एक रचना सुनाने की कृपा करें। घोषणा सुनते ही मेरा मन उछल पड़ा। और दूसरे ही क्षण मैंने नगेन्द्रजी को कविता पढ़ते देखा। कल्पना-चित्रों में किस हद तक वास्तविकता हो सकती है, यह बताने की तो कोई जरूरत ही नहीं पर जहां तक मुझे याद है उनकी उस पहली झांकी से मुझे कोई निराशा नहीं हुई। उनके सौम्य व्यक्तित्व में एक सजीलापन था इकहरे बदन में एक कोमलता थी और वाणी में सहज संस्कार। उन्होंने धीरे-धीरे एक गीत सुनाना शुरू किया जिसकी पहली पंक्तियां मुझे आज भी याद हैं—

आ सखि तुझको गीत सुनाऊं
इस चन्दा की उजियारी में सुख के गाने गाऊं।

उन दिनों जैसे गीत मैं लिखता-पढ़ता रहता था उनसे यह भिन्न कोटि का था। उसके भाव जैसे सरल और मुक्त थे भाषा और अभिव्यक्ति भी मीठी और निश्छल थी। सरल प्रणय-निवेदन के इस गीत ने मेरे मन में नगेन्द्रजी के व्यक्तित्व को एक मीठी कोमलता से मंडित कर दिया। यही कारण था कि अगले वर्ष जब साहित्य-रत्न भंडार के कार्यालय में मुझे दुबारा उनके दर्शन का सौभाग्य मिला तो यह जानकर मुझे एक विचित्र निराशा-सी हुई कि वे उस समय अपनी एक आलोचनात्मक पुस्तक (सुमित्रानन्दन पन्त) के प्रकाशन के सम्बन्ध में आए हुए थे। मेरा अतिभावुक अपरिपक्व मन कवि को जिस श्रद्धा से देखता था आलोचक को उससे वंचित रखता था। मैं सोचता हूं आज भी हम पाठकों में ऐसे अनेक हैं जो आलोचक के कर्म को जाने-अनजाने कुछ घटिया स्तर देते हैं।

जो हो आलोचना-पुस्तक के साथ नगेन्द्रजी ने उन दिनों एक छोटा-सा काव्य-संग्रह भी प्रकाशित कराया—'वनबाला' और महेन्द्रजी ने कृपापूर्वक उसकी एक प्रति भी मुझे दी थी। आज सोचता हूं कि 'वनबाला' की रचनाओं की मौलिकता पन्त के काव्य के अतिशय प्रभाव के कारण कुछ दब-सी गई थी पर उन दिनों उन कविताओं में मुझे बड़ा रस मिला और जहां तक मैं उन्हें समझ सका उनसे काव्य-शिक्षा भी मैंने ग्रहण की।

पर 'वनबाला' से जो सुख और सन्तोष मुझे मिला था वह फिर एक घटना से समाप्त हो गया। सन् १९४ के आस-पास की बात है। एक बार प्रोफेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त के घर अनायास ही कुछ हिन्दी लेखक इकट्ठे हुए। उन दिनों प्रगतिशील लेखक-संघ का आन्दोलन जोरों पर था और मैं भी उस आन्दोलन

से प्रभावित होकर प्रगतिशील बन बैठा था। उस दिन की गोष्ठी में साहित्य के मूल सिद्धान्तों पर श्री शिवदानसिंह चौहान और नगेन्द्रजी में बड़ी गरमागरम बहस छिड़ गई। मैं स्वभावतः चौहानजी के तर्कों को मुग्ध भाव से सुन रहा था और नगेन्द्रजी के तर्क मुझे व्यर्थ और निस्सार लग रहे थे। तिस पर जब मैंने देखा कि नगेन्द्रजी के स्वर की दृढ़ता ज्यों की त्यों बनी हुई है और वे चौहानजी की बातों पर अपनी स्थापनाओं में रंचमात्र भी परिवर्तन स्वीकार नहीं करना चाहते तो मुझे घोर निराशा हुई। और जब बहस का अन्त होते न देखकर नगेन्द्रजी ने सहसा एक विनोदपूर्ण वाक्य से सारी बहस काट दी तो मुझे लगा कि वे हँसी के सहारे अपनी कमजोरी छिपा रहे हैं।

अपने मानस के कल्पना-चित्र से नगेन्द्रजी के इस यथार्थ आलोचक-रूप की यह विषमता देखकर मैं ऐसा दंग रह गया कि मैंने उनके निकट पहुँचने का कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। यों उनसे भेंट करने का और मिलते-जुलते रहने का मौका मुझे सदा मिलता रहा और वे जब भी मिले मुझे छोटे भाई का-सा स्नेह देते रहे पर उनके व्यक्तित्व से उत्पन्न अपने निराशा-भाव पर मैं बहुत दिनों तक वश न पा सका। मेरठ साहित्य-परिषद् में नगेन्द्रजी के निवास-स्थान पर 'साहित्य-संदेश' के कार्यालय में अनेक बार उनसे मेरी मुलाकात हुई, और वे सदा मुक्तभाव से मुझे अपनाते रहे। सन् १९४७ में दिल्ली में दंगे के समय एक दिन रात के दो बजे मैंने उनका दरवाजा खटखटाकर शरण ली। प्रतीक की सहकारी योजना में भाग लेते समय उन्होंने मुझे कई ऐसे परामर्श दिए जो बाद में बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। आकाशवाणी के अपने कार्य-काल में मुझे उनसे कई बहुमूल्य सहायता मिली—पर मैं उनके कृतित्व को और उनकी उपलब्धि को कभी भी सही परिप्रेक्ष्य में न देख सका। मेरी यह बद्धमूल धारणा थी कि वे मूलतः कवि हैं जो छायावाद का रंग उतर जाने के कारण और नई काव्य-धारा में अपना मेल न बैठा सकने के कारण कविता लिखना छोड़कर अपनी प्रतिभा के साथ अन्याय कर रहे हैं। बाद में संयोग से एक बार उनके परवर्ती काव्य-संग्रह 'छन्दमयी' को पढ़ने पर भी मेरे मन में इसी धारणा की पुनरावृत्ति हुई।

यह बात नहीं है कि मैं नगेन्द्रजी के आलोचक-रूप से नितान्त अनभिज्ञ या अपरिचित था। समय-समय पर उनके निबंध पत्र-पत्रिकाओं में मिलते रहते थे और उनके ग्रंथों पर भी नजर पड़ती रहती थी। पर इन निबंधों और ग्रंथों के विषय मुझे कुछ पुराने-से लगते थे। काव्य की जिस वेगवती धारा में मैं अनायास बहा चला जा रहा था उससे उनका कोई सीधा संबंध दिखाई नहीं पड़ता था। तिसपर उन दिनों मेरा अपना जीवन कुछ ऐसी निजी समस्याओं

और उलझनों से घिरा हुआ था और घटना चक्रों के घात-प्रतिघात में मैं निरन्तर ऐसा घूमता भटकता फिर रहा था कि यदा-कदा काव्य-रचना के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के उच्च संसर्ग से मैं एक प्रकार से वंचित ही हो गया था। प्रयाग में सन् १९५४ के आस-पास जब मैं कुछ स्थैर्य और धैर्य पा सका तभी पहली बार नियमित अध्ययन का क्रम आरम्भ कर सका। और तभी पहली बार मैं नगेन्द्रजी के विकास को एक नए और सही परिप्रेक्ष्य में देखने में सफल हो सका। मैंने पाया कि नगेन्द्रजी के कविता-सृजन बन्द कर देने से हिन्दी-काव्य की हानि चाहे हुई हो या न हुई हो उन्होंने आलोचना का क्षेत्र अपनाकर हिन्दी के एक उत्कट अभाव की पूर्ति की ओर दृढ़ कदम उठाया है और मूलतः कवि होने के नाते वे साहित्य के सही मूल्यांकन की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। उस समय के अन्य आलोचकों ने राजनीति और मतवाद के पूर्व ग्रहों को अपनाकर आलोचना को जो भीषण क्षति पहुँचाई थी नगेन्द्रजी उसका प्रतिकार करने में लगे हैं और बहुत दिनों बाद पहली बार साहित्य में उन मूल्यों की चर्चा उठाई जा रही है जो उसके अपने निजी हैं। तब से अब तक मैं बराबर नगेन्द्रजी के आलोचना-कार्य को श्रद्धा और प्रशंसा से देखता आया हूँ और यद्यपि समसामयिक हिन्दी कविता के मूल्यांकन के सम्बन्ध में मैं उनसे सहमत नहीं हो पाता हूँ फिर भी यह निर्विवाद है कि नगेन्द्रजी ने साहित्य सृजन के मूलस्रोतों की खोज की ओर ध्यान दिलाकर, प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुतकर, और आलोचना के प्राचीन मानदण्डों को युगानुकूल नई व्याख्या से सम्पन्न कर हिन्दी में स्थायी महत्त्व का कार्य किया है और हिन्दी आलोचना को नई प्रतिष्ठा से मंडित किया है।

[२]

'सुमित्रानन्दन पन्त' का प्रकाशन सन् १९३८ में हुआ था। यद्यपि इसके पूर्व ही अपने विद्यार्थीकाल से ही नगेन्द्रजी आलोचनात्मक निबंध लिखने लग गए थे और सन् १९३७ से 'साहित्य-सन्देश' के प्रकाशन से वे अपने इस रूप में पाठकों के सम्मुख आने लग गए थे फिर भी नगेन्द्रजी के सम्यक् कार्य का प्रारंभ इसी ग्रन्थ से माना जा सकता है। सन् ३८ में नगेन्द्रजी का अंग्रेजी और हिन्दी का एम० ए० पास किए दो-एक वर्ष ही हुए थे और अपनी इस प्रथम पुस्तक में उन्होंने छायावाद के प्रमुख कवि को साहित्य के विद्यार्थी की ही दृष्टि से देखा था। स्वयं प्रकृति से छायावाद के अनुकूल होने के कारण वे पन्तजी को गहन सहानुभूति दे सके थे। यों भी वे उनके प्रिय कवि थे और आज भी हैं। फिर भी आलोचना के क्षेत्र में 'सुमित्रानन्दन पन्त' का प्रकाशन एक उल्लेखनीय साहित्यिक घटना है। जिस प्रकार उनके पूर्ववर्ती आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल ने पहली बार सूर, जायसी और तुलसी का विशद एवं सांगो पांग विवेचन कर हिन्दी में इन महाकवियों की प्रतिभा को प्रकाशित किया था उसी प्रकार नगेन्द्रजी ने 'सुमित्रानन्दन पन्त' और 'साकेत एक अध्ययन' लिखकर अर्वाचीन कवियों को समुचित स्थान देने का श्रीगणेश किया। कवि गुरु मैथिलीशरण गुप्त के काव्य पर तो और भी आलोचक पुस्तकें लिख चुके थे (यथा—गिरीशजी और डा० सत्येन्द्र) पर पंतजी के काव्य के विस्तृत विवेचन का यह प्रथम प्रयास था। पर प्रथम प्रयास होते हुए भी उसमें प्रौढ़ता गंभीरता और स्पष्टता का अनन्य सम्मिश्रण था। सच तो यह है कि अपनी पहली पुस्तक में ही नगेन्द्रजी ने अपने परवर्ती परिपक्व स्वरूप की सम्यक झांकी देने में सफलता पाई थी। शुक्लजी ने प्रारंभ में छायावाद को काव्येतर स्थान पर आधारित मानकर जो उपेक्षा दी और अपने जीवन के अंतिम दिनों में उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए भी उसे केवल एक अभिनव शैली की ही जो प्रतिष्ठा दी उसके कारण आलोचना के क्षेत्र में एक रिक्ति आ गई थी। छाया वाद के प्रशंसकों की यों कोई कमी न थी और छायावादी कृतित्व से संबंधित स्फुट समीक्षाएं भी निरन्तर प्रकाशित होती रहती थीं पर उसके एक प्रवर्तक कवि के समग्र कृतित्व का व्यवस्थित विवेचन अभी तक न हुआ था। श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे प्रशंसक और समर्थक तो उसे प्राप्त हो गए थे पर एक अध्यवसायी तटस्थ आलोचक का अभाव नगेन्द्रजी ने ही पूरा किया।

'सुमित्रानन्दन पंत' के प्रकाशन का समय मोटेतौर पर हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन के उत्थान का समय है। छायावाद उस समय ढलान पर था और देश-विदेश की उथल-पुथल से घिरकर साहित्यकार राजनीति के निकट आ रहा था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया साहित्य और राजनीति का यह गठ-बंधन मजबूत होता गया यहां तक कि प्रगतिशील आन्दोलन एक दल-विशेष का पर्याय बन गया और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में पहले प्रयोगवाद और फिर नई कविता का युग आया। पच्चीस वर्ष की इस छोटी-सी अवधि में जब हिन्दी कविता निरन्तर अपना रूप-रंग बदलकर नई और विचित्र होती जा रही थी तब नगेन्द्रजी का आलोचक बिलकुल विपरीत दिशा में अग्रसर हो रहा था। पंत से मैथिलीशरण फिर देव और रीतिकाल और फिर प्राचीन काव्य-शास्त्र आलोचक नगेन्द्र की यह यात्रा जितनी विचित्र लगती है उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। जब अन्य आलोचक तात्कालिक प्रश्नों का तात्कालिक समाधान दे रहे थे और काव्य के बहिरंग को लेकर माथापच्ची करते रात-दिन एक कर रहे थे तब नगेन्द्र काव्य की आत्मा के आविष्कार में उसके मूल स्रोतों की खोज में सिद्ध कवियों और पंडितों का अनुशीलन कर रहे थे एवं काव्य के सत्य

स्वरूप के दर्शन के लिए व्याकुल थे। उनकी इस यात्रा ने मेरे समान अन्य अनेक विद्यार्थियों-लेखकों को इस भ्रम में डाल दिया कि वे भटक गए। जबकि सत्य यह है कि वे उस परंपरा को आगे बढ़ाकर चरितार्थ करने के प्रयत्न में अनवरत लगे हुए थे जो स्वर्गीय रामचंद्र शुक्ल ने चलाई थी और जिसके बिना आधुनिक साहित्यिक आलोचना अपनी सच्ची भूमि नहीं पा सकती। श्री शिवदानसिंह चौहान से उनकी जिस बहस की चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूँ वह क्षणिक उफान न था। आज मैं पूरी तौर पर अनुभव कर रहा हूँ कि नगेन्द्रजी ने अपने विकास की एक दिशा निर्धारित कर ली थी और तब से आज तक वे निष्कम्प कदमों से उसी पर चलते आ रहे हैं। अपने उद्देश्य के प्रति जो एकान्त निष्ठा और अपने कर्म के प्रति जो तन्मय मनोयोग नगेन्द्रजी ने प्रदर्शित किया है उसीका यह फल है कि नगेन्द्रजी आज हिन्दी के मूर्धन्य आलोचकों में हैं और वे प्रतिदिन उस सत्य के निकट पहुंच रहे हैं जो समग्र भारतीय साहित्य के मूल में बसा हुआ है। अत्याधुनिक साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण से बहुतों को असंतोष हो सकता है (क्योंकि उसके प्रति उनका वही दृष्टिकोण है जो शुक्लजी का छायावाद के प्रति था) पर इसका कारण न तो यह है कि वे आधुनिक जीवन की समस्याओं से अवगत नहीं हैं और न यह कि वे नई अभिव्यक्ति को सहानुभूति नहीं दे पाते। उसका एकमात्र कारण यह है कि नव काव्य ने अभी स्वयं अपना उत्कर्ष नहीं पाया है और समग्र साहित्य की उपलब्धि की तुलना में उसकी उपलब्धि अभी महत्त्वपूर्ण नहीं बन सकी है। तिसपर वर्तमान को अपनी सहानुभूति देकर अपने कर्तव्य की इति-श्री मान लेनेवाले आलोचक के प्रयत्न की व्यर्थता भी किससे छिपी है। साहित्य को परम्परा में जीवन के लिए परम्परा का ज्ञान और मूल्यांकन प्राथमिक महत्त्व रखता है। सच पूछिए तो जो कार्य अपने विगत पच्चीस वर्षों के जीवन में नगेन्द्रजी ने किया है वह पहले ही हो जाना चाहिए था। यदि ऐसा हुआ होता तो आज का साहित्य भी भव्यतर होता और उसका मूल्यांकन भी अपेक्षाकृत सरल होता। पर अनेक ऐतिहासिक कारणों से ऐसा न हो सका और आलोचना एवं साहित्य-रचना के बीच की खाई न पट सकी। पर अब नगेन्द्रजी ने जो आधारभूत कार्य सम्पन्न कर लिया है उससे यह आशा बंधती है कि आलोचना शीघ्र ही आधुनिकतम साहित्य से सम्पर्क स्थापित कर सकेगी। इस आवश्यकता के प्रति स्वयं नगेन्द्रजी भी सजग हैं और यही कारण है कि वे प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के अध्ययन के साथ-साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का भी सम्यक अध्ययन प्रस्तुत करते रहे हैं क्योंकि समसामयिक साहित्य पर पाश्चात्य का जो अनिवार्य प्रभाव है उसका सही मूल्यांकन इसके बिना नहीं हो सकता। साथ ही विश्व-साहित्य के मूल तत्त्वों का विवेचन और समन्वय भी तभी संभव हो

सकेगा। निश्चय ही नगेन्द्रजी का ध्यान इस ओर भी लगा हुआ है और उसीके पहले कदम के रूप में वे विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों की आत्मिक एकता के अनुसन्धान और प्रत्यय पर बल दे रहे हैं। ऊपरी विभिन्नता के मूल में अंतरंग एकता की यह खोज साहित्यिक सत्य की प्रतीति को सही दिशा देती है।

[२]

अपनी पच्चीस वर्ष की अनवरत साहित्य-साधना से डा० नगेन्द्र ने हिन्दी साहित्य को जो दान दिया है और उसकी उपलब्धि में जो योग दिया है उसकी एक झांकी प्रस्तुत निबंध-संग्रह में मिलेगी। समय-समय पर उनके लिखे और सम्पादित जो ग्रन्थ अब तक प्रकाशित हुए हैं उनकी संख्या पच्चीस से ऊपर है उनमें से प्राय: सभीने आलोचना के किसी न किसी महत्त्वपूर्ण पक्ष की पूर्ति का काम किया है और आलोचना के मान और स्वरूप को निर्धारित करने में सहायता की है। व्यवस्थित अध्ययन के फलस्वरूप ये आलोचना-ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक बन गए हैं और अपनी समग्रता में वे बहुमूल्य उपलब्धि हैं। उनके द्वारा डा० नगेन्द्र ने पाश्चात्य और भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत कर उनके समन्वय का मार्ग उन्मुक्त किया है छायावाद और राष्ट्रीय जागरण के काल तक के हिन्दी साहित्य का नवीन और अधिक सम्पूर्ण मूल्यांकन प्रस्तुत किया है और पहली बार हिन्दी आलोचना में अन्य भारतीय साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन और पारस्परिकता की चेतना का समावेश किया है। 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' नामक अपने निबंध में इस चेतना का स्वर देते हुए वे कहते हैं "किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए—वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यंत अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या बंगला तक ही सीमित करले तो वह सत्य की खोज में असफल रहेगा—उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धारा में अवगाहन करना होगा—गुजराती उड़िया असमिया तमिल तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सभीकी तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टत: अनेक छिद्र रह जाएंगे। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएं आकस्मिक-सी प्रतीत होती हैं वे वास्तव में ऐसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के विशाल रीति साहित्य की परम्परा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी। वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बंगला में सहज ही मिल जाता है। इस अन्तःसाहित्यिक शोध-प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियां अनायास ही मिल जाएंगी—अगणित जिज्ञासाओं का सहज समाधान हो जाएगा

आलोचना की सच्ची प्रगति डा० नगेन्द्र के हाथों द्वारा हुई है और वे शुक्लजी की परम्परा का विस्तार कर हिन्दी की आलोचना को नई उपलब्धियों के गौरव शिखर की ओर ले जा रहे हैं।

[४]

एक आलोचक की रचनाएं होने के कारण प्रस्तुत संग्रह के लगभग सभी निबंध आलोचना साहित्य की निधि हैं। फिर भी प्रकार भेद से उन्हें पांच खंडों में बांट दिया गया है। पहले खण्ड में साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की चर्चा और मूल्यांकन है। इस खण्ड के कुछ महत्वपूर्ण निबंधों का उल्लेख हम अभी कर आए हैं। उनके अतिरिक्त 'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' निबंध की ओर हम पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना चाहते हैं। जिस युग में आलोचक नगेन्द्र ने अपना सृजन-कार्य आरम्भ किया था उस युग में प्रगतिशील आन्दोलन के प्रभाव में साहित्य अधिकाधिक निर्वैयक्तिक और जड़ होता जा रहा था उसमें से रचयिता का आत्म प्रकाश घटने लग गया था। उसी पृष्ठ-भूमि में लिखा गया यह निबंध साहित्य की मूल प्रेरणा का पुनरुत्थान कर सही मूल्यों की स्थापना का एक सफल प्रयत्न है। जब राजनीतिक मतवादों के प्रचार प्रसार को ही साहित्य का मूल धर्म बनाने की चेष्टा की जा रही थी तब डा० नगेन्द्र ने जिस निर्भीकता से अहं का संस्कार और परिष्कृत आनन्द की उपलब्धि के इस उभयपक्षी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर तत्कालीन मत-बुखार को दूर करने में सहायता पहुंचाई है। उन्होंने निर्द्वन्द्व घोषणा की थी कि "व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और सामीप्य जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होता है और ये महत्तर मूल्य अन्त में बहुत कुछ समष्टिगत मूल्य ही होंगे यह ठीक है। परन्तु इनका निर्णय स्थूल दृष्टि से बाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) आन्दोलनों का शासन रखकर नहीं करना होगा वरन् व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओं को छोड़कर बहती हुई अखण्ड मानव चेतना के प्रकाश में ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओं में खोया हुआ इस सत्य का तिरस्कार कर सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य पर अधकचरे निर्णय देता रहा है परन्तु इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी ही रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएं पूरी हो जाने पर उस अखण्ड मानव-चेतना ने तुरन्त ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है और उन निर्णयों में उचित संशोधन कर दिया है। निर्भ्रान्त और निष्पक्ष दृष्टि के बिना कथन में ऐसी दृढ़ता संभव नहीं होती।

दूसरे खण्ड में तीन निबंध हैं जो भारतीय साहित्य के कुछ पक्षों के विवेचन के अतिरिक्त स्वतन्त्र भारत में हिन्दी साहित्य की प्रगति का लेखा-जोखा प्रस्तुत

और उधर भारतीय चिन्ताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखण्ड एकता का उद्घाटन हो सकेगा। निश्चय ही भारतीय साहित्य का ऐसा सम्यक और समग्र अध्ययन हमारे ज्ञान और आस्वाद के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह बड़ा शुभ लक्षण है कि यह कार्य हिन्दी के द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है। हिन्दी आलोचना को इस नये अध्याय तक पहुंचाने के लिए डा० नगेन्द्र हम सब की बधाई के पात्र हैं।

इसी प्रकार आज के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र का पुनराख्यान और विवेचन एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों से उसकी तुलना में अपने गंभीर श्रम द्वारा डा० नगेन्द्र ने एक अन्य दिशा में समन्वय का मार्ग खोल दिया है। उन्होंने बड़े धैर्य और मनोयोग से विभिन्न काव्य-सिद्धान्तों के मूल-तत्त्व को समझने का प्रयास किया है और प्रत्येक के गुण-दोषों का पूरा विवेचन किया है। यह कितना कठिन कार्य है इसे कहने की आवश्यकता नहीं। साथ ही उनके अध्ययन में वांछित तटस्थता और विवेक का ध्यान रखकर डा० नगेन्द्र ने पहली बार हमें उनके सच्चे स्वरूप से अवगत कराया है। जिसपर भी जहां उन्हें भारतीय सिद्धान्त पाश्चात्य सिद्धान्तों से अधिक सम्पूर्ण अथवा अधिक उपयुक्त दीखे हैं वहां अपने वक्तव्य में उन्होंने बड़ी दृढ़ता से कार्य किया है। सत्य की शोध में उन्होंने न तो कोई रू-रियायत की है न किसी प्रकार की दुविधा या हिचक को प्रश्रय दिया है। प्रस्तुत संग्रह में प्रथम खण्ड के निबंधों का पाठ करने से पाठक सहज ही इस कथन की सत्यता और महत्त्व को परख सकता है।

इनके अतिरिक्त डा० नगेन्द्र ने हिन्दी आलोचना को एक तीसरी दिशा में भी अग्रसर किया है। वह है अनुसन्धान अथवा शोध की दिशा। आलोचक और अनुसन्धाता के कार्य क्षेत्रों का निर्धारण अनुसन्धान के उद्देश्य और उपकरणों का निर्देश एवं अनुसन्धान की प्रक्रिया—इन सभी पक्षों पर डा० नगेन्द्र ने गंभीर चिन्तनकर अपने निबन्ध 'अनुसन्धान और आलोचना' में अनुसन्धान का एक पूरा शास्त्र ही विकसित किया है। गंभीरता और मौलिकता की दृष्टि से यह निबंध जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही सामयिकता और उपयोगिता की दृष्टि से भी। आज जब हिन्दी में अनुसन्धान की बाढ़-सी आ गई है और कोरे तथ्य-संकलन को अनुसन्धान की गरिमा से विभूषित करने की जो भ्रामक प्रवृत्ति बल पकड़ती जा रही है उसको देखते हुए नगेन्द्रजी का यह निबन्ध अनुसन्धाताओं के लिए प्रकाशस्तम्भ का काम करता है। इस निबन्ध में प्रसंगवश आलोचक के सत्य रूप का जिस ओजपूर्ण स्पष्टता से आख्यान हुआ है, वह भी प्रशंसनीय है।

इन तीनों दिशाओं में डा० नगेन्द्र ने जो कार्य किया है, उसके बल पर हमें यह कहने में तनिक भी हिचक नहीं कि रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी

आलोचना की सच्ची प्रगति डा० नगेन्द्र के ही द्वारा हुई है और वे शुक्लजी की परम्परा का विस्तार कर हिन्दी की आलोचना को नई उपलब्धियों के गौरव शिखर की ओर ले जा रहे हैं।

[४]

एक आलोचक की रचनाएं होने के कारण प्रस्तुत संग्रह के लगभग सभी निबंध आलोचना साहित्य की निधि हैं। फिर भी प्रकार भेद से उन्हें पांच खंडों में बांट दिया गया है। पहले खण्ड में साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की चर्चा और मूल्यांकन है। इस खण्ड के कुछ महत्वपूर्ण निबंधों का उल्लेख हम अभी कर आए हैं। उनके अतिरिक्त 'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' निबंध की ओर हम पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना चाहते हैं। जिस युग में आलोचक नगेन्द्र ने अपना सृजन-कार्य आरम्भ किया था उस युग में प्रगतिशील आन्दोलन के प्रभाव से साहित्य अधिकाधिक निर्वैयक्तिक और जड़ होता जा रहा था उसमें से रसमिता का आत्म प्रकाश घटने लग गया था। उसी पृष्ठ-भूमि में लिखा गया यह निबंध साहित्य की मूल प्रेरणा का पुनराख्यान कर सही मूल्यों की स्थापना का एक सफल प्रयत्न है। जब राजनीतिक मतवादों के प्रचार प्रसार को ही साहित्य का मूल धर्म बनाने की चेष्टा की जा रही थी तब डा० नगेन्द्र ने जिस निर्भीकता से मन का संस्कार और परिष्कृत आनन्द की उपलब्धि के इस उभयपक्षी सिद्धांत का प्रतिपादन कर तत्कालीन गर्द-गुबार को दूर करने में सहायता पहुंचाई है। उन्होंने निश्चित घोषणा की थी कि " व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गाम्भीर्य जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते हैं और ये महत्तर मूल्य अन्त में बहुत कुछ समष्टिगत मूल्य ही होंगे यह ठीक है। परन्तु इसका निर्णय स्थूल दृष्टि से बाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) आवश्यकता के सामने रखकर नहीं करना होगा वरन् व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओं को तोड़कर बहती हुई अखण्ड मानव-चेतना के प्रकाश में ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओं में खोया हुआ इस सत्य का तिरस्कार कर सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य पर अवश्य निर्णय देता रहा है परन्तु इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी ही रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएं पूरी हो जाने पर उस अखण्ड मानव-चेतना ने तुरन्त ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है और उन निर्णयों में उचित संशोधन कर दिया है। निर्भ्रान्त और निर्मम दृष्टि के बिना संयम में ऐसी दृढ़ता संभव नहीं होती।

दूसरे खण्ड में तीन निबंध हैं जो भारतीय साहित्य के कुछ पक्षों के विवेचन के अतिरिक्त स्वतंत्र भारत में हिन्दी साहित्य की प्रगति का लेखा-जोखा प्रस्तुत

करते है। 'स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी साहित्य' शीर्षक निबन्ध अपनी स्पष्टता और सन्तुलन के लिए विशेष रूप से द्रष्टव्य है। राजभाषा के रूप में हिन्दी की आवश्यकताएं क्या हैं उनकी पूर्ति की सही दिशा कौन-सी है और किन पथों में जाकर उसके भटक जाने की सम्भावना है यह इस निबंध में संक्षेप और गहराई से व्यक्त किया गया है। आलोचक नगेन्द्र के सभी गुण इस निबन्ध में एकत्र मिलते हैं। विषय को समग्रता में देखने का मकसद इस प्रकार की अतिरंजना और अतिव्याप्ति से बचने की सावधानी स्पष्टता दृढ़ता और तटस्थ मूल्यांकन—इन सबका प्रमाण यह निबंध है। हिन्दी के विकास को राजनीतिक दलदल में घसीटने का जो प्रयत्न किया गया है उसकी ओर संकेत करते हुए डा० नगेन्द्र लिखते हैं "भारत की राजभाषा होते ही हिन्दी भाषा के प्रश्न ने अनायास ही सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया। एक तो इसका मूढ़ राजनीतिक पहलू है जिससे अनेक महारथी जूझ गए और आज भी जूझ रहे हैं। हमारे मन में उनके प्रति वही भयमिश्रित आदर है जो सामान्य बुद्धिजीवी व्यक्ति का योद्धा के प्रति हो सकता है। वे हमारे नमस्य हैं। शैली की यह प्रखरता तेजयुक्त होते हुए भी न्यायपूर्ण है। इसी प्रकार गांधी-विषयक उत्कृष्ट काव्य का हिन्दी में अभाव देखकर उन्होंने जो निष्कर्ष दिया है वह जैसा संतुलित है वैसा ही सही भी है "गांधी के महानिर्वाण से सम्बद्ध काव्य में इसीलिए अपेक्षित उदात्त रस का संचार नहीं हो सका क्योंकि उसका भाव अभी तक हुआ है और भाव के कवि के लिए जिसने कि उसको प्रत्यक्ष रूप से सहा है अभी वह संस्कार नहीं बन पाया—संभव है वर्षों तक बन भी न पाए। इसलिए गांधी महाकाव्य कदाचित् कुछ समय बाद ही लिखा जा सकेगा जबकि गांधी के जीवन-मरण से सम्बद्ध हमारी युगानुभूति प्रत्यक्ष अनुभूति न रहकर संस्कार बन जायगी। इस कथन में निहित जो मूलभूत तत्त्व है उसकी प्रतीति करने पर हम आधुनिक काव्य की अनेक रचनाओं की असफलता का कारण जान सकते हैं।

इसी खण्ड में एक और निबंध है—'भारतीय साहित्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव'। सामयिक होने के अतिरिक्त यह निबंध हिन्दी आलोचना के लिए अभिनव योगदान है क्योंकि ऐसे सम्यक और सम्पूर्ण रूप में इस विषय को पहले कभी नहीं उठाया गया। हमें इस निबंध में सर्वाधिक प्रशंसनीय बात यह लगती है कि विद्वान लेखक ने रवीन्द्रनाथ की महत्ता को प्राणपण से स्वीकार करते हुए भी अन्य कृतिकारों की प्रतिभा का बराबर ध्यान रखा है, और इस बात की सावधानी बरती है कि कहीं भी कथन में अतिशयोक्ति न आ जाए। वास्तव में सच्ची आलोचना का यह अनिवार्य गुण है। किसी भी महापुरुष की देन को स्वीकार करने में हम इतने अंधे न हो जाएं कि अन्य रच

मितामों को उनका प्राप्य देना भूल जाएं। रवीन्द्र-शतवार्षिकी के अवसर पर देश में जो अतिरंजना का निर्घोष सुनाई पड़ा। उससे अप्रभावित रहकर मतुमन का ऐसा यथेष्ट प्रयास विलक्षण-निष्ठा और शक्ति का उदाहरण है।

तीसरे खण्ड में दो निबंध हैं हिन्दी के दो आधुनिक काव्य-धाराओं पर। इनमें 'छायावाद' पर निबंध जिस पनी दृष्टि और सहानुभूति का परिचायक है उसके दर्शन 'प्रयोगवाद' में कम होते हैं। डा० नगेन्द्र ने प्रयोगवादीय परिस्थिति का विवेचन तो यथेष्ट गहराई से किया है पर उसकी सफलता-असफलता पर उन्होंने जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे हम सहमत नहीं हो पाते। छायावाद के मूल्यांकन में स्वर्गीय शुक्ल में जो एकांगिता दिखाई थी उस मूल्यांकन में भी कुछ-कुछ वैसा ही आभास होता है। जिस प्रकार शुक्लजी ने छायावाद को मात्र एक शैली माना था उसी प्रकार डा० नगेन्द्र भी प्रयोगवाद को शैली पर ही विशेष बल दे रहे हैं। हमारा विश्वास है कि कालान्तर में डा० नगेन्द्र अपने इन विचारों में परिवर्तन करेंगे।

चौथे खण्ड का प्रतिपाद्य है कामायनी। कामायनी छायावाद का तो सर्वोत्कृष्ट काव्य है ही। वह आधुनिक हिन्दी का भी सबसे महान ग्रंथ है। यही कारण है कि उसके विवेचन में आलोचक स्वयं भी बड़ी उदात्त भूमि पर पहुंच जाता है। ये दो निबंध कामायनी की उपलब्धि को उजागर करने में तो सर्वथा समर्थ हैं ही वे डा० नगेन्द्र की भी विशिष्ट उपलब्धि हैं। मनन की गहराई, शैली की गंभीरता विषयानुरूप भाषा और अभिव्यक्तिगत संयम इन निबंधों को उज्ज्वल बनाते हैं। कामायनी की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिए ये दो निबंध जो काम करते हैं वह बड़े-बड़े ग्रंथों से भी संभव नहीं।

अंतिम खण्ड के निबंध विशुद्ध आलोचनात्मक निबंध न होकर व्यक्ति-परक निबंध हैं। यद्यपि पहले दो निबंधों में लेखक का आलोचक-रूप भी पूर्णतः मुखरित है फिर भी उनमें व्यक्ति नगेन्द्र का उष्ण स्पर्श भी हम पाते हैं। केवल अंतिम निबंध विशुद्ध संस्मरण है और एक ऐसे अनोखे व्यक्तित्व के प्रति भाव भरी श्रद्धांजलि है जो बहुत कम देखा जाता है। इन निबंधों का इस संग्रह में स्थान दिए बिना नगेन्द्रजी के पूरे व्यक्तित्व के साथ न्याय होना संभव नहीं था क्योंकि इनमें जो आत्मीयता हमें मिलती है वह अपने विषय के कारण अन्य निबंधों में नहीं मिलती। स्पष्टता मतुमन और निर्भीकता जो नगेन्द्रजी के विशिष्ट गुण हैं यहां भी पूरे रूप में विद्यमान हैं पर उन सबके साथ आत्म परिचय की एक कोमलता इन निबंधों को आलोचना से अधिक रचनात्मक बना देती है। यों नगेन्द्रजी के मन में आलोचक भी रचयिता होता है और हम उनसे पूर्णतः सहमत हैं पर इन निबंधों में मुझे उस खोए हुए कवि-रूप के पुन

दर्शन होते हैं जिसकी कल्पना एक युग पहले मेरे मन ने की थी।

इतना होने पर भी इन तीनों निबंधों में भी यथेष्ट प्रकार भेद है। 'मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन' यदि आत्म-कथात्मक है, तो 'कहानी और रेखा चित्र' चर्चा-अंकन है और 'बाबा' स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा नवीन' विशुद्ध संस्मरणात्मक विषय-गत भेद के कारण तीनों की शैलियों में जो भेद है वह इतना अनिवार्य है कि यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उनके साथ अन्य किसी प्रकार से न्याय नहीं हो सकता था। इन निबंधों में हमें एक प्रसन्न प्रवाह के साथ-साथ घटनाओं कथोपकथनों और मुहावरों के भी पुट मिलते हैं। अपने आलोचनात्मक निबंधों में विषय के प्रति सतुलन बनाने के लिए नगेन्द्रजी जिस तटस्थता का प्रयोग करते हैं उससे इन निबंधों का विवर्तन प्रफुल्ल विस्मय प्रदान करता है। इसीलिए इन निबंधों की भाषा भी अपेक्षाकृत हलकी और कल-कलमयी हो जाती है। कामायनी-संबंधी निबंधों के महानद प्रवाह से इन लहरियों की तुलना कर पाठक स्वयं ही इस मर्म को ग्रहण कर सकता है।

[५]

साहित्य के मूल्यांकन और हिन्दी आलोचना के विकास के क्षेत्र में डा नगेन्द्र ने जो योग दिया है उसके प्रतिनिधि होने के नाते तो ये निबन्ध महत्त्व पूर्ण और सग्रहणीय है ही निबन्ध-कला की दृष्टि से भी ये कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपने विद्यार्थी-काल से आरम्भ कर आज तक डा नगेन्द्र निरन्तर निबन्ध को अपने विचारों और भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते आए हैं, और उनकी कला में निरन्तर प्रौढि और निखार आता गया है। यद्यपि प्रारम्भिक निबन्ध अपेक्षाकृत उथले और सीमित हैं और बाद के निबन्ध अपेक्षाकृत अधिक गहरे एवं व्यापक फिर भी यह द्रष्टव्य है कि प्रत्येक निबन्ध में डा नगेन्द्र के व्यक्तित्व की अचूक छाप है और उन सबों में समाहित मूल सूत्र एक ही है। अधिकांश निबन्ध-लेखक निबन्ध-रचना को सरल समझकर उसके रूप और प्रकार पर विशेष ध्यान नहीं देते पर नगेन्द्रजी के साथ यह बात नहीं है। वे निबन्ध-रचना में उतनी ही सावधानी और श्रम बरतते है जितना एक कुशल कवि अपनी कविता की रचना म। कुछ दिन पहले की बात है, उनके एक निबंध को पढ़कर मैंने उसमें एक विशेष प्रसंग में कुछ परिवर्तन करने का सुझाव दिया था। उसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा वह यद्यपि मेरे लिए अप्रत्याशित था पर उससे उनके चिर-जागरूक कलाकार का परिचय मिलता है। उन्होंने कहा कि निबन्ध मे किसी बाहरी आवश्यकतावश कोई परिवर्तन करना वे सह नहीं सकते। अर्थात् सम्पूर्ण निबन्ध एक कलासृष्टि है उसका आदि-मध्य-अन्त अत्यन्त सावधानीपूर्वक प्रकल्पित और प्रणीत है उसमें अब छेड़-छाड़ उसके स्वरूप को बिगाड़ देगी। उनका यह उत्तर सुनकर मैं मन ही मन गद्गद हो

गया था क्योंकि उसमें उनकी सावधानी और दृढ़ता का पता चलता है। यही कारण है कि ये निबन्ध आलोचना-परक होते हुए भी कलात्मक कृतियाँ हैं। उनमें प्रत्येक शब्द अपनी अनिवार्यता से उपस्थित है, न कहीं अनावश्यक विस्तार है, न उलझन। निबन्धकार ने अपने कथ्य को पूरे मनन के उपरान्त रचना का रूप दिया है, उसकी उठान उसका विकास और उसकी परिणति कलाकार के संयम से निर्मित है। उनके निबन्धों का यह कसाव और यह सर्वांगता डा० नगेन्द्र की निबन्ध-कला की प्रमुख विशेषता है।

डा० नगेन्द्र के निबन्धों की दूसरी विशेषता है उनकी स्फटिक-तुल्य पारदर्शिता एवं तर्क-संगत विचार-गुम्फन। अपनी धारणाओं की स्थापना में वे पक्ष पर नहीं चलते। प्रत्येक तथ्य के सभी पहलुओं पर सम्यक धैर्य से विचार करते हैं और जो निष्कर्ष तर्क एवं विवेक द्वारा पुष्ट न हो सके उसे मात्र आग्रह या भावोच्छ्वास से प्रतिष्ठित करने की चेष्टा नहीं करते। इस एक गुण में मैं उन्हें शुक्लजी से भी बड़ा निबन्धकार मानता हूँ। कतिपय आलोचकों ने डा० नगेन्द्र का क्षोभ, क्रोध हर्षोल्लास आदि प्रकट न करते देखकर निराशा व्यक्त की है पर मैं इसके अभाव को सच्चे आलोचक का गुण मानता हूँ। हाँ जिन निबन्धों का स्वर वैयक्तिक है उनमें इस प्रकार के भावोद्गारों का अभाव नहीं है उनका बाहुल्य तो नगेन्द्रजी देते ही क्यों। इसी गुण के अनुषंग रूप में एक और गुण इन निबन्धों में मिलता है—निबन्धकार का संतुलन। इसका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है 'अनुसन्धान और आलोचना' जिसमें साहित्य की इन दोनों विधाओं के महत्त्व का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लेखक ने ऐसे विलक्षण संतुलन से काम लिया है जिसे 'तलवार की धार पै धावनो' कह सकते हैं। लगता है कि लेखक तनिक-सी भी डगमगाहट से संतुलन खो बैठेगा पर उसकी सावधानी के कारण ऐसा कहीं भी नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि ये निबन्ध अत्यन्त उच्चकोटि की निबन्धकला के प्रमाण हैं और उनका स्वरूप उनका कलेवर, उनकी भंगिमा सब प्रतिपाद्य के अनुरूप बनी हुई है। उदाहरण के लिए 'कहानी और रेखाचित्र' वाला निबन्ध ले लीजिए। कहानी और रेखाचित्र दो विधाएँ हैं या एक ही के दो प्रकार, और दो हैं तो उनमें अन्तर क्या है इसका विवेचन लेखक ने एक गोष्ठी की कार्यवाही के वर्णन के माध्यम से किया है। हमारा निश्चय है कि अन्य किसी रूप में कहानी और रेखाचित्र के साम्य और भेद को इतनी सूक्ष्मता से उपस्थित करना कठिन होता।

अन्त में एक शब्द भाषा के सम्बन्ध में। डा० नगेन्द्र की भाषा को हम संस्कृत-गर्भित कह सकते हैं। निश्चय ही साधारण पाठक जिस भाषा की अपेक्षा रखता है उससे यह कठिन है। पर उपन्यास और आलोचना की भाषा एक कभी नहीं हो सकती। फिर भाषा का काठिन्य अधिकतर पारिभाषिक

शब्दों का ही है समग्रता में भाषा इतनी स्पष्ट और निखरी हुई है कि उसमें उलझन अथवा अस्पष्टता का लेश भी नहीं। और जहां तक पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न है, मैं समझता हूं कि जितने नए शब्दों का निर्माण डा० नगेन्द्र ने किया है उतना आज के और किसी आलोचक ने नहीं। यद्यपि डा० नगेन्द्र ने कहीं-कहीं अंग्रेजी की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है, पर वहीं जहां स्पष्टता के लिए वह आवश्यक लगी है। अन्यथा उन्होंने प्रायः सभी अंग्रेजी शब्दों के सटीक और समानार्थी पर्याय हमें दिए हैं।

—सम्पादक

कविता क्या है ?

कविता क्या है ? यह एक जटिल प्रश्न है। अनेक आलोचक यह मानते हैं कि कविता की परिभाषा और स्वरूप-विवेचन सम्भव नहीं है। परन्तु मेरा मन इतनी जल्दी हार मानने को तैयार नहीं है। यों तो जीवन के सभी सूक्ष्म और गहन सत्य सरलता से परिभाषा का बंधन स्वीकार नहीं करते फिर भी जिसकी अनुभूति हो सकती है उसके विवेचन को मैं असम्भव नहीं मानता। अपूर्ण वह अवश्य रहेगा। परन्तु अपूर्णता तो भाषा की सहज परिसीमा है यह तो किसी भी अनुभव की अभिव्यक्ति पर घट सकती है। फिर कविता की परिभाषा के विषय में ही इतनी निराशा क्यों ?

मैं एक उदाहरण लेकर इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करूंगा —

स्याम गौर किमि कहौं बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

तुलसी की यह अर्धाली कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है इसमें सन्देह नहीं हो सकता। शताब्दियों से सहृदय-समाज इसके कवित्व की प्रशंसा करता आया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हरिऔध आदि मर्मज्ञ समालोचक मुक्तकण्ठ से इसका यशोगान कर चुके हैं।

राम और लक्ष्मण के सौन्दर्य से प्रभावित सीता की सखी की यह सहज भावाभिव्यक्ति है। श्यामांग राम और गौरवर्ण लक्ष्मण के सौन्दर्य का वर्णन किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? क्योंकि वर्णन की माध्यम इन्द्रिय वाणी नेत्रविहीन है और सौन्दर्य-ग्रहण के माध्यम नेत्रों के वाणी नहीं है। अर्थात् नेत्र उनके सौन्दर्य का आस्वाद तो कर सकते हैं किन्तु उसका वर्णन नहीं कर सकते और वाणी उस सौन्दर्य का वर्णन करने में तो समर्थ है किन्तु उसका वास्तविक आस्वादन वह नहीं कर सकती। इसका मूलभाव है सौन्दर्य के प्रति प्रबल सात्त्विक आकर्षण—इन शब्दों में पुरुष के सौन्दर्य के प्रति नारी का सहज उन्मुखी भाव व्यंजित है। इस उन्मुखी भाव में वासना का कर्दम नहीं है अर्थात् वैयक्तिक

इच्छा और उसकी पूर्ति के फलस्वरूप ऐन्द्रिय मानसिक सुख की लिप्सा का चित्रण नहीं है। अतः यहाँ सात्त्विक सौन्दर्य चेतना की व्यंजना है। औचित्य की दृष्टि से यह व्यंजना सर्वथा स्तुत्य है। राम और लक्ष्मण अभी परपुरुष हैं—कवि की योजना के अनुसार वे सीता और उर्मिला के वरेण्य हैं, इस दृष्टि से सखी की भाव-व्यंजना में वासना (वैयक्तिक इच्छा) का समावेश किसी प्रकार भी उचित नहीं था। कवि को तो यहाँ सीता के पूर्वराग का उद्दीपन ही अभीष्ट है। अतएव सखी की इस उक्ति में वह केवल विस्मय और उल्लास से युक्त तीव्र आश्चर्य की ही व्यंजना करता है। सारांश यह है कि प्रस्तुत सूक्ति में 'औचित्य' द्वारा अनुमोदित अर्थात् नैतिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध जीवन के अत्यन्त मधुर भाव किशोर वय के आकर्षण की अभिव्यंजना है।

अब अभिव्यंजना की दृष्टि से परीक्षा कीजिए। प्रस्तुत प्रसंग में कवि का साध्य है—सौंदर्य द्वारा उत्पन्न प्रभाव का सम्प्रेषण। सौंदर्य का प्रभाव निश्चय ही एक अमूर्त तथा मिश्र प्रतिक्रिया है जिसमें रति उल्लास व्रीड़ा आदि अनेक भावों का समन्वय है। वक्ता की 'मुग्धा' अवस्था के कारण 'अभिव्यंजना' और भी कठिन हो जाती है। अतः कवि ने वर्णन की चेष्टा ही नहीं की—'किमि भावं बखानी ?' के द्वारा अर्थात् वर्णन की असमर्थता की स्वीकृति के द्वारा सौन्दर्य की अनिर्वचनीयता की व्यंजना की है। यह अनिर्वचनीयता 'अतिशय' की द्योतक है। किन्तु अनिर्वचनीय होते हुए भी वह 'अनुभवातीत नहीं है—वास्तव में वक्ता को उसकी अत्यन्त प्रबल अनुभूति हो रही है। अर्थात् यह सौन्दर्य इतनी तीव्र अनुभूति उत्पन्न करता है कि उसको व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं हैं। इस प्रकार कवि सौंदर्य की सूक्ष्म किन्तु तीव्र अनुभूति का वर्णन न कर, वक्ता की असमर्थता द्वारा उसकी व्यंजना करता है। यह वर्णन की वक्र शैली है जिसे कुन्तक ने 'संवृति-वक्रता' के नाम से अभिहित किया है। दूसरे चरण में असमर्थता का कारण दिया गया है—वाणी के नैन नहीं है और नैनों के वाणी नहीं हैं। अलंकार शास्त्र में इसका नाम अर्थान्तरन्यास है। इस उक्ति में लक्षणा का चमत्कार है क्योंकि शरीर-हीन वाणी में नेत्रों की और इसी प्रकार नेत्रों में वाक् शक्ति की कल्पना सामान्यतः निराधार है। अतः लक्षणा के आधार पर ही यह उक्ति सार्थक बनती है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्रच्छन्न विरोधाभास भी विद्यमान है—प्रत्यक्ष रूप से यह अत्यन्त स्पष्ट तथ्य है किन्तु लक्षणा का आधार इसमें तर्क की शक्ति उत्पन्न कर देता है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच यह विरोधाभास निश्चय ही चमत्कार का कारण है।

इसी प्रकार आरम्भ के दोनों शब्दों—श्याम और गौर—में भी चमत्कार विद्यमान है, ध्वनिवादी जिसे पर्याय ध्वनि, वक्रोक्तिवादी विशेषण-वक्रता और अलंकारवादी किसी लक्षणामूलक अलंकार का नाम दे सकते हैं।

अब नाद सौंदर्य की दृष्टि से लीजिए। उद्धृत अर्धाली में अत्यन्त प्रसन्न पदावली का प्रयोग है जिसमें सूक्ष्म वर्णमैत्री के नाद-सौंदर्य की कोमल अनुगूंज है—कवि ने पवर्ग और कवर्ग के वर्णों की आवृत्ति और दूसरे चरण में 'न' की आवृत्ति के द्वारा सहज वर्ण-सामंजस्य पर आश्रित शब्द-संगीत का सृजन किया है। उधर लघु मात्रिक चौपाई छन्द मुग्धा के मन की इस भाव तरंग का अत्यन्त उपयुक्त माध्यम है।

अब प्रश्न यह है कि इनमें से किस तत्त्व का नाम कविता है? मूल भाव अर्थात् सौंदर्य चेतना का? उक्ति-वक्रता अथवा अलंकार के चमत्कार का? अथवा वर्णमैत्री का? या फिर छन्द-संगीत का? उत्तर भी कठिन नहीं है। मूल भाव कविता नहीं है—यहाँ संयोग से यह भाव सौन्दर्यानुभूति है सामान्यतः कुछ भी हो सकता है। किन्तु भाव-कविता नहीं है। यौवन में सब मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी भाव की अनुभूति करते हैं पर वह कविता तो नहीं कही जा सकती। न जाने कितने स्त्री-पुरुष और तिर्यक योनि में भी न जाने कितने नर-मादा एक-दूसरे के यौवन-सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होते हैं किन्तु इस आकर्षण को कविता तो नहीं कहा जा सकता।

तो क्या उक्ति-वक्रता कविता है? अर्थात् क्या सौन्दर्य के इस अनुभव को विदग्ध रीति से शब्द-बद्ध करना कविता है? नहीं क्योंकि अपने नित्यप्रति के व्यवहार में हम अपने आशय को न जाने कितनी बार अनेक वचन भंगिमाओं के द्वारा व्यक्त करते रहते हैं। वह तो कविता नहीं है। क्या अलंकार का चमत्कार—'नयन' और 'वाणी' का लाक्षणिक प्रयोग अथवा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सूक्ष्म विरोधाभास कविता है? यहाँ कतिपय शास्त्र रसिक तर्क-वितर्क कर सकते हैं। किन्तु मेरा स्पष्ट मत है—नहीं। क्योंकि बोलचाल में निरन्तर हम न जाने मुहावरा के रूप में कितने लाक्षणिक प्रयोग करते रहते हैं। विरोधाभास का चमत्कार भी सभा चतुर व्यक्तियों के लिए साधारण चमत्कार है। यह सब तो कविता नहीं है। इसी प्रकार सामान्य के द्वारा विशेष के कल्पनात्मक समर्थन को भी कविता कैसे कहा जाए! नवीन आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में उक्ति-वक्रता लाक्षणिक प्रयोग अलंकार-चमत्कार आदि में कल्पना का वैभव है। अतएव सारतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार केवल भाव कविता नहीं है उसी प्रकार केवल कल्पना भी कविता नहीं है।

अब रह जाता है संगीत-तत्त्व—वर्ण-संगीत और लय-संगीत। यह भी निश्चय ही कविता नहीं है क्योंकि वर्ण-संगीत और लय-संगीत दोनों ही निरर्थक पदावली में भी सम्भव हैं।

तो फिर वास्तव में कविता क्या है? इन सभी तत्त्वों का समन्वय कविता है। यह समस्त अर्धाली ही कविता है। सौन्दर्य चेतना कविता नहीं है उक्ति

वक्रता कविता नहीं है, अनुप्रासाभ्यास चमत्कार कविता नहीं है, वर्ण-संगीत कविता नहीं है, चौपाई की लय कविता नहीं है। इन सबका समन्वित रूप ही कविता है—अर्थात् रमणीय भाव, उक्ति-वैचित्र्य और वर्ण-लय-संगीत तीनों ही मिलकर कविता का रूप धारण करते हैं। अब फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या कविता के लिए इन तीनों की स्थिति अनिवार्य है? क्या इनमें से किसी एक का अभाव कविता के अस्तित्व में बाधक होगा? उदाहरण के लिए, क्या बिना रमणीय भाव-तत्त्व के कविता नहीं हो सकती? इसका उत्तर देने से पूर्व रमणीय शब्द का आशय स्पष्ट करना आवश्यक है—रमणीय का अर्थ केवल मधुर नहीं है—कोई भी भाव, जिसमें हमारे मन को रमाने की शक्ति हो, रमणीय है। इसी दृष्टि से क्रोध, ग्लानि, शोक आदि भावों के भी विशेष रूप रमणीय हो सकते हैं, काव्य में होते ही हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि एक तो केवल प्रेम, श्रद्धा, विस्मय आदि मधुर भाव ही रमणीय नहीं हैं, शोक, ग्लानि, अमर्ष आदि अप्रिय भाव भी रमणीय हो सकते हैं। दूसरे, भावों के सभी रूप रमणीय नहीं होते, शृंगार जैसे मधुरतम भाव के भी अनेक रूप सर्वथा अरमणीय और अकाव्योचित हो सकते हैं, होते हैं। जीवन की इन अनुभूतियों के वे ही रूप रमणीय होते हैं जिनके साथ सहृदय का मन तादात्म्य स्थापित कर सके, जिनमें सहृदय की मनोवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति हो। भाव की रमणीयता इसीका नाम है। तो क्या इस रमणीय भाव-तत्त्व के अभाव में कविता नहीं हो सकती? मेरा स्पष्ट उत्तर है—नहीं। इसके अभाव में जो चमत्कार आपको मिल सकता है वह बौद्धिक चमत्कार ही हो सकता है, जैसे पहेली के समाधान आदि में मिलता है। तथाकथित चित्र काव्य में इसीकी उपलब्धि होती है। बौद्धिक चमत्कार कविता का धर्म नहीं है, अतः जिस उक्ति से केवल बौद्धिक चमत्कार प्राप्त होता है वह कविता नहीं। अब दूसरा तत्त्व लीजिए—उक्ति-वैचित्र्य। क्या उक्ति-वैचित्र्य के बिना कविता हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर के विषय में बड़ा मतभेद है। आचार्य शुक्ल जैसे रसज्ञ आचार्य का दृढ़ मत है कि हाँ, हो सकती है। प्राचीन रसवादी आचार्यों का इस विषय में यही मत था—कदाचित् शुक्लजी की यही धारणा है। परन्तु मुझे संदेह है, आनन्दवर्धन आदि रसध्वनिवादी तो ध्वनि के साथ कल्पना की अनिवार्यता मानकर काव्यानुभूति में वैचित्र्य की स्थिति निश्चित रूप से स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि कल्पना के योग का नाम ही तो वैचित्र्य है। शुक्लजी ने भी अनेक प्रसंगों में इस भाव-प्रेरित वक्रता का यथोचित किया है, किन्तु अपने पूर्ववर्ती काव्य के अतिशय चमत्कारवाद से क्षुब्ध होकर सिद्धान्त-रूप में वे उसका निषेध कर देते हैं। मुझे खेद है कि आचार्य शुक्ल की यह धारणा मैं स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इसमें एक अतिवाद के विरुद्ध दूसरे

प्रतिवाद की प्रस्थापना है और मनोविज्ञान के इस स्वयंसिद्ध तर्क का निषेध है कि मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवार्यतः उच्छ्वसित हो जाती है। वाणी का यही उच्छ्वास उक्ति-वैचित्र्य है, इसलिए व्यापक अर्थ में उक्ति-वैचित्र्य का अभाव कविता में संभव नहीं है। प्रकारान्तर से हम यह भी कह सकते हैं कि उक्ति-वैचित्र्य के अभाव में कविता नहीं हो सकती। तीसरा तत्त्व है संगीत। इसके विषय में तो मतभेद और भी अधिक है। संस्कृत काव्यशास्त्र का निर्भ्रान्त मत है कि छन्द कविता का वैकल्पिक उपकरण है। उधर हिन्दी के मध्ययुगीन आचार्यों के लिए छन्द के अभाव में कविता तो क्या साहित्य के किसी रूप की कल्पना सम्भव नहीं थी। यूरोप में इस प्रश्न को लेकर नियमित रूप से दो दल बन गए थे—एक ओर अरस्तू और कालरिज जैसे आचार्य छन्द को वैकल्पिक मानते थे, दूसरी ओर ड्राइडन आदि के मत से छन्द का संगीत कविता का अनिवार्य माध्यम था। मेरा मत भी छन्द के 'इस पुराने ग्राम्य विशेषण' को कविता का अनिवार्य तत्त्व मानने के ही पक्ष में है। छन्द कविता का सहज वाहन है। प्रत्येक साहित्य-रूप की अपनी-अपनी सहज विधा है, नाटक के लिए संवाद, कथा-साहित्य के लिए वर्णनात्मक गद्य, आलोचना के लिए विवेचनात्मक गद्य, निबन्ध के लिए ललित गद्य और कविता के लिए छन्द। नाटक के रंग-संकेतों में वर्णनात्मक गद्य का प्रयोग होता है, उपन्यास में संवाद का, आलोचना में ललित गद्य का और निबंध में विश्लेषणात्मक गद्य का—ऐसे ही कविता में लययुक्त गद्य-संगीत का कुछ कवियों ने सफल प्रयोग किया है। किन्तु यह सहज स्थिति नहीं है, यहां एक विधा के तत्त्व दूसरी की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं, जैसे वास्तुकला में मूर्तिकला या चित्रकला का भी प्रयोग प्रायः होता आया है। वास्तव में समस्त कला तथा साहित्य-रूपों का मूल तत्त्व तो एक ही है, रूप विधाएं भिन्न हैं, अतः उनके बाह्य उपकरण बहुधा एक-दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते रहते हैं। नाटक में आख्यान-तत्त्व का, उपन्यास में नाट्य तत्त्व, आलोचना में साहित्य का समावेश हो जाता है, परन्तु फिर भी उनके वैशिष्ट्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार गद्य-साहित्य के अनेक रूप रस के प्राचुर्य से काव्यात्मक हो सकते हैं और कविता में भी नाट्य तत्त्व का समावेश हो सकता है, कविता आलोचनात्मक भी हो सकती है और गद्यवत् भी, किन्तु यह उसका सहज या शुद्ध रूप नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि की भांति कविता भी रस के साहित्य की एक विशिष्ट विधा है—मूल तत्त्व तो सभी का एक ही है—रस, किन्तु माध्यम के आधार पर इनमें परस्पर भेद है जो इनके वैशिष्ट्य की रक्षा करता है। कविता नाम की साहित्य-विधा का माध्यम है छंद। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य—रस के साहित्य का पर्याय है जिसके अन्तर्गत नाटक-उपन्यास आदि का

समावेश है। आज काव्य और कविता में भेद हो गया है काव्य समस्त रस साहित्य या पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में सर्जनात्मक साहित्य का पर्याय है कविता उसका पर्याय नहीं है—एक रूप है जो छन्द के माध्यम के कारण अन्य रूपों से भिन्न है।

सारांश यह है कि पूर्वोक्त तीनों तत्व—रमणीय अनुभूति उक्ति-वैचित्र्य और छन्द अर्थात् वर्ण-संगीत और लय-संगीत—कविता के लिए अनिवार्य हैं। इनमें से किसी एक का नाम कविता नहीं है इन तीनों का समन्वित रूप ही कविता है। पहले दो तत्त्व काव्य अथवा रस के साहित्य के भी अनिवार्य अंग हैं। तीसरा तत्त्व अर्थात् छन्द ही कविता को काव्य के अन्य रूपों से पृथक करता है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छन्द है। यहाँ एक और शंका का भी समाधान कर सना अनुपयुक्त न होगा। वह यह कि क्या रस के साहित्य के अन्य रूपों और कविता में केवल रूप विधा अथवा माध्यम का ही अन्तर है और स्पष्ट शब्दों में—क्या उपन्यास और प्रबन्ध-काव्य में केवल यही अन्तर है कि एक अनियतलय गद्य में लिखा हुआ है और दूसरा नियतलय छन्द में ? क्या दोनों के भाव-तत्त्व अथवा मूल संवेद में कोई अन्तर नहीं है ? अनेक आलोचकों के मत से दोनों में मूल संवेद का अन्तर भी है। उनका विश्वास है कि उपन्यास का आस्वाद और प्रबन्ध-काव्य का आस्वाद भिन्न होता है। इस धारणा में केवल इतना ही सत्य है कि आस्वाद के रूप पर माध्यम का प्रभाव भी पड़ता है। उदाहरण के लिए, वन में वृन्त पर खिले हुए गुलाब और किसी नागरिक के सुसज्जित कमरे में गुलदस्ते में सजे हुए गुलाब की सौन्दर्यानुभूति में थोड़ा अन्तर निश्चय ही पड़ जाता है। इसी प्रकार यह निर्विवाद है कि रसात्मक तत्त्व के अतिशय के कारण ही कविता स्वभावतया छन्द के माध्यम से स्फुरित होती है और छन्द का संगीत उसके रसात्मक तत्त्व को और भी समृद्ध कर देता है। इस दृष्टि से आस्वाद अथवा मूल संवेद में भी थोड़े से अन्तर की कल्पना असंगत नहीं है किन्तु यह अन्तर मात्रा का अन्तर है, प्रकार या प्रकृति का अन्तर नहीं। इसलिए मैं अपनी उस स्थापना को फिर यथावत् दोहराता हूँ कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम छन्द है।

अन्त में एक मौलिक समस्या का समाधान कर इस प्रसंग को समाप्त कर दूँगा। काव्यशास्त्र में मनोविज्ञान के वर्धमान प्रभाव के फलस्वरूप अनेक नवीन आलोचकों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि कविता एक अनुभूति अथवा अनुभूतियों का वर्ग है। उदाहरण के लिए इस युग के सर्वश्रेष्ठ अंग्रेज आलोचक रिचर्ड्स का कथन है कि कविता अनुभूतियों का एक वर्ग है। तुलसीदास की पूर्वोक्त अर्धाली को ही आधार मानकर चलें तो यह कहा जा सकता है कि इन आलोचकों के

मन से 'स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कविता नहीं है, वरन् इससे प्राप्त सहृदय की अनुभूति ही कविता है। बात निश्चय ही बहुत गहरी है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इससे उलझन ही पैदा होती है। इसलिए कदाचित् अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक आधार ग्रहण करने पर भी भारतीय आचार्य इस प्रपंच में नहीं पड़ा। उसकी व्यवहार-बुद्धि ने सहृदय की अनुभूति को स्पष्ट शब्दों में रस कहा है और इस अनुभूति को उत्पन्न करनेवाले शब्दार्थ को कविता। तत्त्व-दृष्टि से कदाचित् रिचर्ड्स का मत ही ठीक हो, किन्तु व्यवहार-दृष्टि से—समझने-समझाने की दृष्टि से—हमारे आचार्यों की स्थापना ही ग्राह्य है : 'शब्दार्थौ काव्यम्'। इस प्रकार मैं घूम-फिरकर फिर वहीं पहुँच जाता हूँ : रसात्मक शब्दार्थ ही काव्य है और उसकी छन्दोमयी विशिष्ट विधा आधुनिक अर्थ में कविता है।

रस का स्वरूप

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

(साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद)

उपर्युक्त पद्य में कविराज विश्वनाथ ने संस्कृत रस-शास्त्र में वर्णित रस के स्वरूप का सार संचित कर दिया है। यहाँ सत्त्वोद्रेक रस का हेतु है, अखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय वेद्यान्तरस्पर्शशून्य ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तरचमत्कार प्राण-आदि पदों द्वारा रस के स्वरूप का निर्देश किया गया है, स्वाकारवदभिन्न के द्वारा प्रकार का और प्रमाता द्वारा रस के अधिकारी का। परिणामतः संस्कृत रस-शास्त्र में रस के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं:

(१) रस्यते (आस्वाद्यते) इति रसः—जिसका आस्वादन हो वह रस है—अर्थात् रस आस्वाद-रूप है। उसके आस्वादयिता सहृदय ही हो सकते हैं। रस सहृदय-संवेद्य है।

(२) यह आस्वाद अनिवार्यतः आनन्दमय ही है और यह आनन्द अखण्ड चिन्मय और वेद्यान्तर स्पर्शशून्य है। अखण्ड का अर्थ यह है कि इसमें विभाव अनुभाव स्थायी संचारी आदि की पृथक् या खंड चेतना नहीं होती वरन् सभी की अखंड चेतना होती है। दूसरे, इस समय किसी अन्य विषय की चेतना नहीं होती और तीसरे, यह अनुभूति चिन्मय अभिलाषापूर्वक एवं अबुद्धिपूर्वक नहीं इच्छा और बुद्धिपूर्वक होती है। रस का आविर्भाव सत्त्व की प्रधानता होने पर ही होता है। इसका तात्पर्य आज के पाठक के लिए यही है कि उसमें ऐन्द्रियता नहीं होती। रस-चर्वण आस्वाद से अभिन्न होने के कारण भाव से स्पष्टतः भिन्न है। शृंगार रस का अर्थ रति का अनुभव नहीं है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बीभत्स रस का अर्थ जुगुप्सा या करुण का अर्थ शोक का अनुभव नहीं है। "भाव तीव्र

मंरग संवेग धावेग उद्वेग आवेश अंग्रेजी में 'इमोशन' का अनुभव रस नहीं है किन्तु उस अनुभव का स्मरण प्रति-संवेदन आस्वादन रमण रस है।

(रस-मीमांसा डा० भगवानदास)

(३) यह आनन्द चमत्कार—प्राण है। चमत्कार का अर्थ है चित् का विस्तार अर्थात् विस्मय। विश्वनाथ ने अपने पितामह का अनुसरण करते हुए चमत्कार को अत्यधिक महत्त्व दिया है परन्तु फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि विस्मय या चमत्कार का काव्यानन्द में यत्किंचित् योग अवश्य रहता है। सुन्दर वस्तु को देखकर मन में आनन्द और विस्मय की मिश्र भावना का उदय होता है। सुन्दर प्राकृतिक दृश्य अथवा कला-कृति—उदाहरण के लिए ताजमहल को देखकर, मन में जो भावना उत्पन्न होती है वह केवल आनन्द ही नहीं कही जा सकती उसमें विस्मय का भी अनिवार्य योग रहता है। विदेश के सौंदर्य शास्त्र में भी सौंदर्यानुभूति में विस्मय का तत्त्व अनिवार्य माना गया है। इसका आशय यही है कि यह अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म है। ऐन्द्रियता के अतिरिक्त इसमें बौद्धिकता भी अनुमान रहती है कवि की लोकोत्तर सृजन प्रतिभा के प्रति आदर और विस्मय का भाव भी रहता है बस। इसके आगे अद्भुत को ही केवल एक रस मानना या चमत्कार को बौद्धिक व्यायाम अथवा पहेली बुझाना समझ लेना चमत्कार का अनर्थ करना है। बाद के आचार्यों ने उसे इसी स्थूल अर्थ में ग्रहण कर पेचीदे मज़मूनों के बारजावन्धे इकट्ठे कर दिए हैं।

(४) रस न साध्य है न कार्य न साक्षात् अनुभव है न परोक्ष न निर्विकल्पक ज्ञान है न सविकल्पक अतएव किसी लौकिक परिभाषा में आबद्ध न हो सकने के कारण यह अनिर्वचनीय एवं अलौकिक है ब्रह्मानन्द सहोदर है। सवितर्क ब्रह्मानन्द का सहोदर है निर्विकल्प समाधि का नहीं क्योंकि उसमें तो महकार सभी वासना का सर्वथा नाश हो जाता है परन्तु रस में ऐसा नहीं होता।

संक्षेप में आज के मनोवैज्ञानिक के सामने तीन प्रश्न हैं

(१) क्या काव्यानुभूति (रस) अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है ?

(२) क्या काव्यानुभूति अनिवार्यतः भावानुभूति से भिन्न है ?

(३) क्या यह आनन्द अलौकिक और निराला है ?

आनन्द के विषय में आधुनिक मनोविज्ञान के दो मत हैं। एक मत यह है कि जीवन की सभी क्रियाओं का लक्ष्य आनन्द-प्राप्ति है। अर्थात् जीवन की समस्त क्रियाएं आनन्दोन्मुख हैं। यह सम्प्रदाय आनन्दवादी (हैडोनिस्ट) कहलाता है। दूसरे मत के अनुसार ये क्रियाएँ अपने से भिन्न कोई अपर लक्ष्य नहीं रखतीं। ये अपना लक्ष्य आप ही हैं। अर्थात् क्रियाशील होना जीवन का धर्म है जीवन के लिए क्रिया अनिवार्य है। इस सम्प्रदाय का नाम है सार्थकतावादी (हार्मिक)। इनमें पहला जीवन का साधन और आनन्द को साध्य मानता है

और यह भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुकूल है। दूसरा जीवन को ही जीवन का अन्तिम साध्य मानता है और यह वैज्ञानिक वस्तुवाद के अनुकूल है। आजकल अधिकतर मनोवैज्ञानिक इस दूसरे मत को ही स्वीकार करते हैं वे आनन्द की स्थिति स्वीकार तो करते हैं परन्तु उसे अनुभूति या भाव की सिद्धि मानते हैं लक्ष्य नहीं। और इस प्रकार, काव्य में भी आनन्द को साध्य होने का गौरव वे नहीं देते। उसकी सत्ता को साधारण रूप में स्वीकार करते हुए भी अनिवार्य नहीं मानते। उदाहरण के लिए दुःखान्त नाटक का भी आस्वादन आनन्दमय होता है यह वे नहीं मानते। परन्तु वास्तव में इस विवेचन में शाब्दिक जटिलता के अतिरिक्त कोई विशेष ठोस तथ्य नहीं है। आनन्द को ये लोग अन्तर्वृत्तियों की क्रिया की सफलता-मात्र मानते हैं। इनका कहना है कि जब हमारी वृत्तियों की क्रिया सफल होती है वे तृप्त हो जाती हैं तो हमें आनन्द की चेतना होती है। परन्तु इस आनन्द का महत्त्व कुछ नहीं है। महत्त्व है क्रिया का और उसकी सफलता का। आगे जब क्रिया के मूल्य का प्रश्न आता है तो इन लोगों का कहना है कि क्रिया का मूल्य वृत्तियों के संकलन और समन्वय से आंका जाना चाहिए। जो क्रिया जितनी अधिक हमारी वृत्तियों को संकलित और समन्वित करेगी उतनी ही वह मूल्यवान होगी। काव्य और कला में इस संकलन की अत्यधिक शक्ति है अतएव वे जीवन की अत्यन्त मूल्यवान् सम्पत्ति हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि अंतर्वृत्तियों का समन्वय जो उनकी तृप्ति पर अवलंबित है आनन्द नहीं है तो क्या है? ये लोग उत्तर देंगे कि उससे आनन्द की प्राप्ति तो होती है पर वह केवल आनन्द नहीं है आनन्द से भिन्न है वह एक वास्तविक अनुभूति है। आनन्द उस अनुभूति की सिद्धि-मात्र है, लक्षण मात्र है। लेकिन यह केवल बात को उलझा देना है। यह पूछा जा सकता है कि इस वास्तविक अनुभूति का आनन्द से विभिन्न रूप क्या है? आप अपनी मनःस्थिति का स्मरण करके देखिए, दोनों में विभेद करना असम्भव है। आनन्द

To read a poem for the sake of the pleasure which will *ensue if it is successfully read is to approach it in an inadequate* attitude. Obviously it is the poem in which we should be interested and not in a by-product of having managed successfully to read it. × × × This error here a legacy in part from the criticism of an age which had still poorer psychological vocabulary than our own is one reason why tragedy for example is so often misapproached.

(Pleasure--Principles of Literary Criticism by I.A. Richards p-96-97)

की यह प्रकृति है कि वह अपने समय किसी दूसरी अनुभूति की स्थिति सहन नहीं कर सकता। अतएव वृत्तियों के संकलन की अनुभूति आनन्द की अनुभूति से अभिन्न ही होगी। इस प्रकार वृत्तियों की पूर्ण संवलित अवस्थता में तृप्ति अथवा वृत्तियों के पूर्ण संकलन की अनुभूति अखंड आनन्द के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? वास्तविक आनन्द का यह निषेध आनन्द की सत्ता का ही प्रतिपादन करता है। हाँ स्वस्थ और अस्वस्थ क्षणिक और स्थायी आनन्द में भेद करता हुआ अन्त में स्वस्थ आनन्द की उस आनन्द की जो वास्तविक और जीवनप्रद है प्रतिष्ठा यह अवश्य करता है। और इस मान लेने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? रस को काव्य की आत्मा माननेवाले आलोचक का सबसे प्रबल विरोधी यही सार्थकतावादी सम्प्रदाय है। इससे समझौता हो जाने के बाद कोई विशेष प्रतिरोध नहीं रह जाता। भारतीय दर्शन के भी कुछ सम्प्रदाय हैं जो आनन्द से भी ऊपर 'स्वरूप में अवस्थान' को ही जीवन का साध्य मानते हैं। परन्तु उनसे हमारा कोई विरोध नहीं क्योंकि काव्य जीवन की ही अनुभूति है, उसे निर्वितर्क समाधि तक ले जाना हास्यास्पद होगा और जब तक अनुभूति की सत्ता रहती है ये सम्प्रदाय भी आनन्द का तिरस्कार नहीं करते। अन्तर केवल इतना ही है कि ये आनन्द से भी और ऊपर स्वरूप में अवस्थान की दशा तक जाते हैं। परन्तु वहाँ तो अनुभूति की सत्ता ही नहीं रहती निदान वह काव्य के लिए अप्रासंगिक है।

दूसरा प्रश्न निसर्गतः यह उठता है कि रस आनन्द का स्वरूप क्या है? इस विषय में पहली स्थिति तो यही है यह (रस का) आनन्द भाव से भिन्न है और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कटु भावों द्वारा भी तो इसकी प्राप्ति होती है। शारीरिक रति के आनन्द और शृंगार-रस के आनन्द में अभिन्नता का भ्रम हो भी सकता है परन्तु जुगुप्सा की प्रत्यक्ष अनुभूति और बीभत्स रस अथवा शोक की प्रत्यक्ष अनुभूति और करुण रस में अभिन्नता कैसे होती है? यद्यपि इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इनमें सम्बन्ध अवश्य है। न शृंगार रस रति की अनुभूति से असम्बद्ध है और न करुण शोक की अनुभूति से अर्थात् प्रत्येक रस के आनन्द का स्वरूप उसके स्थायी भाव से मूलतः सम्बद्ध अवश्य होता है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र का यह दूसरा दावा (कि रस भाव से पृथक है) स्पष्टतः प्रामाणिक है और आज के मनोविज्ञान को उससे विरुद्ध कुछ नहीं कहना।

इसके आगे तीसरा और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है रस लौकिक अनुभूति है या अलौकिक? आत्मा की स्थिति मानकर यदि हम चलें तो अनुभूति को स्थूलतः तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं



स्पष्ट रूप से यह विभाजन स्थूल है आत्यन्तिक नहीं है क्योंकि ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूति बिना आध्यात्मिक अनुभूति के असम्भव है। इसी प्रकार बौद्धिक या आध्यात्मिक अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से स्वतन्त्र कैसे हो सकती है? अथवा बुद्धि की क्रिया के बिना ऐन्द्रिय या आत्मिक क्रिया मनुष्य में कैसे कृतकार्य हो सकती है? अतएव यह विभाजन अनुभूति में उपर्युक्त किसी एक तत्त्व की प्रधानता का ही द्योतक है एकमात्रता का नहीं—उदाहरण के लिए चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय है गणित के किसी प्रश्न को सुलझा लेने का आनन्द बौद्धिक है, और ब्रह्म के साक्षात्कार अथवा मोक्ष का आनन्द आध्यात्मिक। अस्तु।

अब यह देखना है कि काव्यानंद इनमें से किसके अन्तर्गत आता है या यह किसीके अन्तर्गत ही नहीं आता यह स्व-सापेक्ष्य और स्वतन्त्र है? संस्कृत के आचार्य ने तो उसे अलौकिक और अनिर्वचनीय कहकर मुक्ति पा ली है। उसने तो स्पष्ट कह दिया है कि काव्यानंद न ऐसा है न वैसा अतएव वह अनिर्वचनीय है। परन्तु विदेश में उसके स्वरूप का इतिहास रोचक रहा है। वहाँ का आचार्य प्लेटो बुद्धि और आत्मा को एक मानता हुआ केवल दो प्रकार की अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार करता था —आध्यात्मिक (बौद्धिक) अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति। काव्यानुभूति को उसने स्पष्टत सौन्दर्यानुभूति (जिसे वह आत्मा का अनुभव मानता था) से पृथक ऐन्द्रिय अनुभूति मानकर मिथ्या निम्न कोटि का तथा अस्वास्थ्य आनन्द माना है। अरस्तू ने उसे सर्वथा मिथ्या तो नहीं माना है परन्तु ऐन्द्रिय अवश्य माना है और सौन्दर्य से पृथक रखा है। अतः सदियों तक योरोप में प्लेटो और अरस्तू के मत ही साधारणतः मान्य रहे। परन्तु बाद में रोमन विद्वान् प्लोटीनस ने उनका स्पष्ट खण्डन करते हुए काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति घोषित किया।

उसके मत का सारांश यह है प्रकृति के सौन्दर्य का उद्गम आत्मा है। अतएव प्लेटो का यह निर्णय कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है और प्रकृति स्वयं ब्रह्म की अनुकृति है इसलिए अनुकृति की अनुकृति होने के कारण कला मिथ्या और अस्पृहणीय है भ्रान्त है क्योंकि कला का उद्गम भी वही

मान है या स्वयं प्रकृति का। इस प्रकार प्लोटीनस ने कला का सौन्दर्य के साथ तादात्म्य करते हुए, उसे आध्यात्मिक अनुभूति का गौरव प्रदान किया। और फिर इसीको हीगेल आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने वैज्ञानिक रूप देकर एक स्थिर सिद्धान्त बना दिया। पीछे के दार्शनिक कला को अपने स्वभाव के अनुसार साधारणतः आध्यात्मिक या ऐन्द्रिय मानते रहे और बहुत समय तक इन्हीं दो मतों का आवर्तन होता रहा। अठारहवीं शताब्दी में एडीसन ने काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द मानते हुए, उसे इन दोनों से पृथक् रूप में सामने रखा। उसके अनुसार कल्पना का आनन्द वह आनन्द है जो वस्तु के मूलरूप और कला द्वारा उसके अनुकृत रूप के बीच मिलनेवाले साम्य के भावन से प्राप्त होता है। साम्य के भावन द्वारा प्राप्त यह कल्पना का आनन्द प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक आनन्द और ऐन्द्रिय आनन्द दोनों से भिन्न है। वास्तव में इसमें भारतीय रस का थोड़ा-सा आभास मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी में रोमाण्टिक भाव-स्वातन्त्र्य का प्रभाव इतना अधिक बढ़ा कि बुद्धि की उपेक्षा कर काव्यानन्द का स्वरूप एक साथ अनस्थिर हो गया। प्रत्यक्ष जीवन से काव्य का स्पर्श इतना कम हो गया कि धीरे-धीरे लोग काव्यानुभूति को एक निरपेक्ष अनुभूति मानने लगे जिसकी कि स्पष्ट प्रतिध्वनि बीसवीं शताब्दी के पहले चरण में ब्रैडले और ब्लाइव बेल* आदि में निश्चित रूप से सुनाई पड़ी। इनके अनुसार काव्यानन्द एक विशिष्ट और अनुपम आनन्द है। वह लौकिक अनुभूतियों का विवेचन करनेवाली किसी भी शब्दावली द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इनका मत भारतीय आचार्यों से मिल जाता है। कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में अभिव्यंजनावाद का उदय हुआ और प्रसिद्ध दार्शनिक बनेदेटो क्रोचे ने बुद्धि की परिधि के बाहर और इन्द्रियों की परिधि के भीतर मानव-प्राण चेतना में सहजानुभूति को एक पृथक् शक्ति मानते हुए काव्य या कला को इसी शक्ति का गुण माना। उक्त सिद्धान्त के अनुसार काव्यानुभूति की स्थिति बौद्धिक अनुभूति और ऐन्द्रिय अनुभूति की मध्यवर्ती एक पृथक् अनुभूति—सहजानुभूति है जिसका निर्माण बौद्धिक धारणाओं (Concepts) अथवा ऐन्द्रिय संवेदनों (Sensations) से न होकर बिम्बों से होता है। क्रोचे का यह मत कलावादियों के मत का ही वैज्ञानिक या दार्शनिक रूप है। इस

---

* (i) "First this experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value Next its poetic value is this intrinsic worth alone——for its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase) but to be a world by itself independent complete, autonomous."

प्रकार संक्षेप में स्वदेश विदेश के साहित्य-शास्त्र में काव्यानुभूति अथवा काव्यानन्द विषयक पाँच सिद्धान्त मिलते हैं ।

(१) काव्य का आनन्द प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय आनन्द है । इस मत का प्रवर्तन किया प्लेटो ने और आधुनिक युग में परिपोषण किया ह्यूबाम ने । इसके अनुसार काव्य या कला से प्राप्त आनन्द ठीक वैसा ही है जैसा सरकस से मिलता है ।

(२) काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द है । आत्मा सहज सौन्दर्य-रूप है सहज आनन्द-रूप है । काव्य उसीका उच्छलन है अतः वह स्वभावतः आध्यात्मिक अनुभूति है । स्वदेश-विदेश के आदर्शवादी आचार्य इसी मत को सत्य मानते हैं । हीगेल रवीन्द्रनाथ आदि का यही मत है ।

(३) काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है अर्थात् मूल वस्तु और उसके काव्यांकित रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द है । यह एडीसन का मत है ।

(४) काव्यानन्द सहानुभूति का आनन्द है । इस मत के प्रवर्तक हैं क्रोचे ।

(५) काव्यानन्द सभी प्रकार के लौकिक आनन्दों से भिन्न एक अनुपम और विचित्र आनन्द है—स्व-सापेक्ष्य । यह हमारा काफी पुराना सिद्धांत है । विदेश में इसका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और इस युग में डा० ब्रैडले द्वारा इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हुई ।

उपर्युक्त सभी मत अपना-अपना महत्त्व रखते हुए भी मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते और इसी कारण आज के विचारों का पूर्ण परितोष करने में असमर्थ रहते हैं । काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूति नहीं है यह पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है क्योंकि ऐसा मान लेने पर शोक जुगुप्सा आदि की अभिव्यंजना से प्राप्त अनुभूति शोक और जुगुप्सामय ही होगी जो कि स्पष्टतः असत्य है । काव्य की अनुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति मानना भी आज स्वीकार्य नहीं क्योंकि एक तो आत्मा की सत्ता ही सहज मान्य नहीं है दूसरे काव्यानन्द में चपलता आदि की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि उसे आत्मा के शुद्ध अचचल आनन्द का रूप मान लेना हास्यास्पद होगा । एडीसन का कल्पना

(A.C. Bradley Oxford Lectures on Poetry pp. 5)

(II) "Thus Mr Clive Bell used to maintain the existence of an unique emotion—aesthetic emotion."

(I A. Richards, Principles of Literary Criticism)

"To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions and to not forget the knowledge of life can help no one to our understanding

(Clive Bell, Art pp. 25)

का आनन्द आत्यन्तिक तथ्य नहीं है क्योंकि कल्पना मन (सूक्ष्मेन्द्रिय) और बुद्धि की क्रिया-मात्र है यह स्वतन्त्र नहीं है। अतएव कल्पना का आनन्द ऐन्द्रिय और बौद्धिक आनन्द से स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार क्रोचे द्वारा प्रतिष्ठित सहजानुभूति की शक्ति (intuition) को भी स्वतंत्र शक्ति मान लेने के लिए मनोविज्ञान आज तयार नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने एक स्वर से कह दिया है कि इस विचित्र शक्ति के लिए मनोविज्ञान में कोई पृथक स्थान नहीं है। अन्त में काव्यानुभूति को अनिर्वचनीय कहना या उसको एक विचित्र और स्व-सापेक्ष्य अनुभूति मानना समस्या को सुलझाना नहीं उससे भागना है। इस विषय में अनेक युक्तियां दी जा सकती हैं परन्तु सबसे सीधा और प्रबल तर्क रिचर्ड्स का है —वे कहते हैं कि जब सौंदय की अनुभूति के लिए हमारे पास कोई विशिष्ट या पृथक इन्द्रिय नहीं है तो उसकी अनुभूति को ही विशिष्ट या पृथक कैसे माना जा सकता है? उसका अनुभव साधारण इन्द्रियों द्वारा ही तो होता है इसलिए उसे साधारणतः ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न क्यों मानें?

अतएव मनोविज्ञान की परिधि के भीतर ही अर्थात् बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के अंतर्गत ही काव्यानुभूति का स्वरूप निर्णय करना होगा। हम देखते हैं कि काव्यानुभूति में चित्त की द्रुति विस्तार आदि मानसिक संवेदन तो होते ही हैं रोमांच अश्रु आदि शारीरिक संवेदन भी प्रायः अनुभूत होते हैं अतएव काव्यानुभूति में ऐन्द्रिय अनुभूति का अंश अवश्य मानना होगा। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है उसमें न भारतीय आचार्य न और न विदेश के दार्शनिक ने ही कभी संदेह किया है। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि प्रत्यक्ष रूप में अपने प्रियजन का स्पर्श कर चित्त में द्रुति और शरीर में रोमांच का जो अनुभव होता है वह उस अनुभव से स्पष्टतः भिन्न होता है जो रंगमंच पर इसी प्रकार के प्रसंग को देखकर अथवा (उससे भी किंचित् भिन्न) नाटक में पढ़कर प्राप्त होता है। चित्त में द्रुति और शरीर में रोमांच इस समय भी होता है पर वह पहले से भिन्न होता है। कैसा होता है? स्पष्टतः उतना प्रत्यक्ष अतएव उतना तीव्र नहीं होता। दोनों में भिन्नता तो अवश्य है पर यह भिन्नता प्रत्यक्षता अतएव तीव्रता की शक्ति (degree) की भिन्नता होती है। यह दूसरी अनुभूति अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष और मन्द है। और इस अपेक्षाकृत अप्रत्यक्षता का कारण यह है कि यह प्रत्यक्ष घटना का अनुभव नहीं है भावित (contemplated) घटना का अनुभव है। भावन करने में पहले कवि को फिर दर्शक या पाठक को बुद्धि का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। अतः परिणाम यह निकला कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही परन्तु साधारण नहीं है भावित (contemplated) अनुभूति है। अर्थात् उसमें ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्वों का नवनीत-नीर संयोग है। अब एक शब्द रह गया अनुभूति की व्याख्या की मात्रा

करता है। अनुभूति का विश्लेषण करने पर हमारे हाथ में केवल संवेदन रह जाते हैं जिनको वास्तव में हम अपने मनोजगत् के अणु-परमाणु कह सकते हैं। शारीरिक रूप में यह प्रत्यक्ष और स्थूल होते हैं मानसिक रूप में सूक्ष्म और बिम्ब रूप और बौद्धिक रूप तक पहुँचते-पहुँचते इतने सूक्ष्म हो जाते हैं अर्थात् इनके बिम्ब भी इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि वे लगभग अरूप ही-से लगते हैं उनका रूप नहीं केवल अन्विति-सूत्र ही रह जाता है। जैसे बहुत बारीक जंजीर की कड़ियाँ नहीं दिखाई पड़तीं केवल सूत्र ही दिखाई पड़ता है। इस प्रकार वास्तव में अनुभूति अपने सभी रूपों में मूलतः संवेदन रूप ही है, उसमें (शारीरिक मानसिक और बौद्धिक सभी रूपों में) केवल प्रत्यक्षता की मात्रा का ही अन्तर है, मूलगत प्रकार का नहीं। अतः काव्य की अनुभूति या आनन्द भी संवेदन रूप ही है परंतु ये संवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और बिम्ब रूप होते हैं। साधारण रूप में प्रत्यक्षता और तीव्रता की मात्रा के विचार से हम क्रमशः तीन प्रकार के संवेदनों की कल्पना कर सकते हैं —१ एक तो शुद्ध प्राकृतिक संवेदन (ये एकांत प्रत्यक्ष तथा स्थूल होते हैं) जो उदाहरण के लिए, हमें अपने प्रियजन के प्रत्यक्ष स्पर्श आदि से प्राप्त होते हैं। २ दूसरे वे संवेदन जो उस स्पर्श के स्मरण से प्राप्त होते हैं। ये मानो पहले प्रकार के संवेदनों का बिम्ब रूप होते हैं। स्वभावतः ही ये प्रत्यक्ष अथवा स्थूल कम और मानसिक अथवा सूक्ष्म अधिक होते हैं। ३ तीसरे वे संवेदन जो इस स्मृति के विश्लेषण या बौद्धिक अध्ययन आदि से प्राप्त होते हैं। ये मानो बिम्ब के भी प्रतिबिम्ब हैं और स्वभाव से ही अत्यंत मानसिक एवं सूक्ष्म होते हैं। वास्तव में इनका स्थूल शारीरिक अंश प्रायः नष्ट हो जाता है। इन्हें हम बौद्धिक संवेदन कह सकते हैं। सभी प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं में हमें इसी प्रकार के संवेदन प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष जीवन में प्रायः ये ही तीन प्रकार के संवेदन हमारे अनुभव में आते हैं। परन्तु पिछले दो प्रकार के संवेदनों के बीच एक चौथे प्रकार के संवेदन भी होते हैं जो स्मृति के भावन से (क्रोचे के शब्दों में उसकी सहृयानुभूति से और साधारण व्यावहारिक शब्दावली में उसको काव्य-रूप में उपस्थित या ग्रहण करने से) प्राप्त होते हैं। यह भावन का अनुभव न तो स्मृति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और न उसके विश्लेषण आदि का बौद्धिक अनुभव। यह स्मृति के अनुभव की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक स्थूल होता है, और इसीके अनुपात से इसके संवेदन भी एक की अपेक्षा सूक्ष्म और दूसरे की अपेक्षा स्थूल होते हैं। इस प्रकार काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है। इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता (ऐन्द्रियता और कटुता) नहीं होती

और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की जटिलता नहीं होती और इसीलिए वह पहली से अधिक शुद्ध परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरल होती है।

यहाँ यह शंका एक बार फिर उठती है कि यदि काव्यानुभूति संवेदन से ही निर्मित है तो कटु संवेदनों से काव्य-रूप की अनुभूति मधुर क्यों होती है? इसका समाधान करने से पूर्व कटु संवेदन और मधुर संवेदन की परिभाषा करना उचित होगा। वास्तव में संवेदन न अपने-आप में कटु है और न मधुर। कटुता और माधुर्य तो अनुभूति के गुण हैं। अनुभूति में एक पृथक संवेदन नहीं होता संवेदनों का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है तो हमारी अनुभूति मधुर होती है और जब वे विशृंखल और विकीर्ण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है। जैसा मैंने अभी कहा काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब रूप होते हैं एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यंत क्षीण हो जाती है दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते हैं इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है। क्योंकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में अपने तत्स्वरूप संवेदनों के समन्वित हो जाने से आनन्दमय बन जाते हैं।

करुण रस का आस्वाद

भारतीय काव्यशास्त्र का प्रतिनिधि मत तो यही है कि करुण रस का आस्वाद भी शृंगार आदि की भांति ही सुखात्मक होता है। करुण के साथ रस शब्द का प्रयोग ही उसके आनन्द का द्योतक है। रसवादी आचार्यों ने इस प्रश्न को प्राय स्वतःसिद्ध मानकर अधिक तर्क-वितर्क नहीं किया—मानो करुण का रसत्व ही अपने-आप में इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर हो। फिर भी उनके पास इस विषमता का निश्चित समाधान था इसमें संदेह नहीं हो सकता। इस समाधान के प्राय तीन रूप हैं

(१) काव्य-रस अलौकिक होता है अतः लौकिक कार्य-कारण-सम्बन्ध उसके लिए अनिवार्य नहीं है। दुःख से दुःख की उत्पत्ति तो लौकिक नियम है किन्तु कवि की अलौकिक प्रतिभा के स्पर्श से काव्य में दुःख से सुख की उत्पत्ति भी सम्भव हो जाती है—यही काव्य की अलौकिकता है।

(२) दूसरा समाधान अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है। भट्टनायक की स्थापना के अनुसार काव्य में प्रत्येक भाव साधारणीकृत होकर अन्ततः भोग्य बन जाता है। इस प्रकार भाव की विशिष्टता नष्ट हो जाती है। व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त हो जाने पर उसके स्थूल लौकिक सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उसका रूप सामान्य जीवनगत अनुभूति की अपेक्षा अधिक उदात्त और अवदात हो जाता है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में व्यक्तिगत 'अल्प' की चेतना में सुख नहीं है किन्तु व्यक्ति की सीमाओं से मुक्त 'भूमा' की चेतना में परम सुख की उपलब्धि है। इसी न्याय से काव्य में शोक आदि अप्रिय भाव भी साधारणीकृत होकर व्यक्ति-सम्बन्ध-जन्य दोषों से मुक्त रसमय बन जाते हैं। स्वर्गीय प० केशवप्रसाद मिश्र ने योग की 'मधुमती भूमिका' के आधार पर इसे काव्य की 'रसवती भूमिका' कहा है।

(३) तीसरा समाधान अभिव्यक्तिवादियों की ओर से प्रस्तुत किया गया है। इनका कहना है कि रस की उत्पत्ति नहीं होती अभिव्यक्ति होती है। यदि

उत्पत्ति होती तब तो शोक से शोक की उत्पत्ति का तर्क काव्य पर लागू हो सकता था किन्तु रस की तो अभिव्यक्ति है अर्थात् काव्य-नाट्य-गुणों के प्रभाव से प्रेक्षक की आत्मा में रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव और सतोगुण का उद्रेक हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका आत्मानन्द 'रस'-रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। सत्त्व का उद्रेक और रजोगुण-तमोगुण का तिरोभाव आनंद की स्थिति है जिसमें दूसरा भाव विद्यमान नहीं रह सकता अतः रसत्व को प्राप्त होने पर, सत्त्व के पूर्ण उद्रेक तथा रजोगुण-तमोगुण के नाश के कारण शोक आदि की कटुता स्वतः नष्ट हो जाती है और आनन्दमयी चेतना शेष रह जाती है।

संस्कृत के प्रतिनिधि आचार्यों ने प्रायः ये ही तीन समाधान प्रस्तुत या व्यंजित किए हैं किन्तु कुछ स्वतन्त्रचेता आचार्य अपवाद भी हैं। उदाहरणार्थ (४) शारदातनय ने शैव दर्शन के ही आधार पर एक चौथा समाधान प्रस्तुत किया है। उनका तर्क यह है यद्यपि यह संसार दुःखमोहादि से कलुषित है फिर भी जीवात्मा राग विद्या और कला—अपने इन तीन तत्त्वों के द्वारा उसका भोग करता है। इनमें राग सुखत्व का अभिमान है, विद्या राग का वह उपादान है जिसके द्वारा अविद्या से आच्छन्न चैतन्य का ज्ञान अभिव्यक्त हो जाता है और कला आत्मा को अभिज्वलित (प्रदीप्त) करने वाला हेतु है। इसी न्याय से प्रेक्षक भी शोक भय ग्लानि आदि से निष्पन्न करुण भयानक बीभत्स आदि रसों का अपने आत्मस्थ तीन तत्त्वों—राग विद्या और कला के द्वारा आस्वादन करता है—

रागविद्याकलासंज्ञैः पुंसस्तत्त्वैस्त्रिभिः स्वतः ।
प्रवृत्तिभोगपरोत्पन्ना सुखपादिकरणैरसौ ॥
भोगं निष्पाद्य निष्पाद्य चात्मन्यात्मैव तिष्ठति ।
दुःखमोहादिकलुषमपि भोग्यं प्रतीयते ॥
अस्य सुखत्वाभिमानेन स राग इति कथ्यते ।
विद्या नामेति तत्त्वं यद्रागोपादानमुच्यते ॥
तयाऽभिव्यज्यते ज्ञानं पुरुषस्य विपश्चितः ।
चैतन्यस्य मलेनैव रुद्धस्य स्वभावतः ॥
अभिज्वलनहेतुर्या सा कलेत्यभिधीयते ।
सुखदुःखात्मिका बुद्धेस्तु गोचर उच्यते ॥
एवं परम्पराप्राप्तैर्भोगविषयतां गतैः ।
दुःखादिकरणैर्भोगानुभुङ्क्ते रसात्मना ॥

—(भावप्रकाशन पृ० ५१)

शारदातनय तो अन्ततोगत्वा भाववादियों की परिधि में ही रहे हैं परन्तु

रुद्रभट्ट और उनसे भी अधिक नाट्यदर्पण के लेखकद्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध अत्यन्त निर्भीक शब्दों में यह स्थापना की है—'सुखदुःखात्मको रसः' (नाट्यदर्पण श्लोक १ ६, पृ १५८)—अर्थात् रस की अनुभूति सर्वत्र सुखात्मक ही न होकर दुःखात्मक भी होती है। इनके अनुसार 'तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृंगार-हास्य-वीराद्भुतशान्ताः पंच सुखात्मानोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानकाः चत्वारो दुःखात्मानः' (*नाट्यदर्पण पृ १ ६*)। अर्थात् शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त (इष्ट विभावादि पर आश्रित रहने के कारण) सुखात्मक हैं और करुण रौद्र बीभत्स और भयानक (अनिष्ट विभावादि से उपनीत होने के कारण) दुःखात्मक हैं।—तब फिर प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में सामाजिक करुण आदि का प्रेक्षण या श्रवण क्यों करता है? नाट्यदर्पण में इसका विस्तृत कारण दिया गया है—

यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कवि-नटशक्तिकौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कवि-नट शक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते। कवयस्तु सुख-दुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुख-दुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति।

(नाट्यदर्पण पृ० १५)

इसका सारांश यह है कि करुण रौद्र आदि के द्वारा भी जो चमत्कार की प्रतीति होती है, उसका कारण है यथार्थ वस्तु-प्रदर्शन में निपुण कवि और नट का कौशल। शौर्यगर्वित वीर शत्रु के शिरश्छेदकारी प्रहार-कौशल को देख कर भी विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। प्रेक्षक इसी चमत्कार के लोभ से करुणादि के दृश्यों को देखता है—इस चमत्कार से ही प्रभावित होकर वह दुःखात्मक दृश्यों में आनन्द की प्रतीति करता है। उधर कवि भी सुख-दुःखात्मक संसार के अनुरूप रामादि के चरित्र को सुख-दुःखात्मक रस से अनुविद्ध प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार मिर्च आदि के संयोग से पानक[1] के स्वाद में चमत्कार आ जाता है इसी प्रकार दुःख के तीक्ष्ण आस्वाद से सुख और भी आस्वाद्य हो जाता है।

इस विवेचन से पूर्वोक्त चार समाधानों के अतिरिक्त दो और समाधान उपलब्ध होते हैं—

---

१ सोंठ की चटनी, आदि।

(५) करुण रस से प्राप्त आनन्द (चमत्कार) काव्य-कौशल अथवा काव्य तथा नाट्य दोनों के समवेत कौशल पर आधृत रहता है। प्रेक्षक या श्रोता करुण रस में आनन्दानुभूति नहीं करता, वरन् उसकी अभिव्यंजना करने वाले कवि तथा अभिनेता के कला-नैपुण्य से चमत्कृत होता है। इस चमत्कार से ही करुण रस में आनन्द की भ्रान्ति अथवा आभास हो जाता है।

(६) जीवन में अपार वैविध्य है। षट् रसों में जहाँ मधुर रस है वहाँ तिक्त और अम्ल रस भी—विपरीत स्वाद होने पर सभी को 'रस' नाम से अभिहित किया जाता है और प्रपानक आदि में रसना रसिक इनका 'रस' लेते हैं। इसी प्रकार नव रस में एक ओर रतिमूलक शृंगार है तो दूसरी ओर शोकमूलक करुण भी। अनुभूत्यात्मक रूप सर्वथा विपरीत होने पर भी शास्त्र में इनका नाम 'रस' ही है। और काव्य के 'प्रपानक' में सहृदय इन सभी का आस्वादन करते हैं।

इस प्रकार 'दुःख में सुख' की इस विषम समस्या के भारतीय काव्य-शास्त्र षट् मौलिक समाधान प्रस्तुत करता है—

(१) काव्य की सृष्टि अलौकिक है वह नियतिकृत नियमों से रहित नानाचमत्कारमयी है अतः लोकानुभव से भिन्न दुःख से सुख की उद्भूति उसमें सहज-सम्भव है। यह मूलतः वही तर्क है जिसको कलावादियों ने—ब्रैडले क्लाइव बेल आदि ने बीसवीं शती के आरम्भ में नवीन रूप में पुनः प्रस्तुत किया है—"पहले तो यह अनुभव अपना उद्देश्य आप ही है अपने ही लिए इसकी स्पृहा की जा सकती है इसका अपना निजी मूल्य है। दूसरे काव्य की दृष्टि से इसके इस निजी मूल्य का ही महत्त्व है। क्योंकि सामान्य अर्थ में वस्तु-जगत् का एक अंश होना या उसकी अनुकृति होना इसका स्वभाव नहीं है यह तो अपने आप में ही एक दुनिया है—स्वतन्त्र स्वतःपूर्ण और स्वायत्त।"[१]

(२) रस की अनुभूति साधारणीकृत अनुभूति होने के कारण व्यक्तिबद्ध राग-द्वेष से मुक्त होती है—अतः करुण आदि रसों में शोकादि का दंश नष्ट हो जाता है शुद्ध भाव आस्वाद-रूप में शेष रह जाता है। इस तर्क का संकेत वास्तव में अरस्तू में भी मिल जाता है किन्तु वह अत्यन्त अविकसित रूप में है—प्रो० बुचर ने जिस शब्दावली में उसे प्रस्तुत किया है वह यूरोप के विकास ग्रीक आलोचना-शास्त्र से प्राप्त आधुनिक शब्दावली है। इस दृष्टि से भारतीय आचार्य भट्टनायक का महत्त्व अक्षुण्ण है—उन्होंने अत्यन्त तर्क-संगत तथा तात्त्विक शब्दों में साधारणीकरण के सिद्धांत द्वारा 'करुण' आदि के भोग का

१ ब्रैडले—आक्सफोर्ड लेक्चर्स, पृ० ५

प्रतिपादन किया है।

भट्टनायक के सिद्धांत से एक और समाधान का संकेत मिलता है—काव्य निबद्ध अनुभव प्रत्यक्ष न होकर भावित अनुभव होते हैं, अतः कटु अनुभवों की प्रत्यक्ष अनुभूत कटुता उनमें नहीं रह जाती वरन् कल्पना के चमत्कार का समावेश हो जाता है जिससे शोक भी आस्वाद बन जाता है। पश्चिम के आलोचना-शास्त्र में यह मत काफी प्रचलित रहा है।

(३) रस का परिपाक सत्त्व के उद्रेक की अवस्था में ही होता है अर्थात् ऐसी अवस्था में होता है जब रजोगुण और तमोगुण तिरोभूत हो जाते हैं और सहृदय की चेतना सतोगुण से परिव्याप्त हो जाती है। यह अवस्था सुख की अवस्था है इसमें तमोगुण से उत्पन्न (मोह-विकारी) शोक की कटु अनुभूति सम्भव नहीं है। यह शब्दावली भारतीय काव्य-शास्त्र की अपनी पारिभाषिक शब्दावली है वर्तमान यूरोप का मनोविज्ञान अथवा प्राचीन-नवीन आलोचना-शास्त्र इससे परिचित नहीं है परन्तु शब्द भेद को हटा देने से उपर्युक्त मत अधिक अपरिचित नहीं रह जाता। अभिनव का 'सत्त्वोद्रेक' वास्तव में अरस्तू के 'विरेचन' रिचर्ड्स के 'अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य' और शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित 'हृदय की मुक्तावस्था' से बहुत भिन्न नहीं है। भेद केवल विचार पद्धति का है और भाषा का भी है—अरस्तू ने चिकित्सा-शास्त्र की पद्धति और शब्दावली ग्रहण की है रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान की शुक्लजी ने आलोचना शास्त्र की और अभिनव आदि ने दर्शन (अधिमानस-शास्त्र)[१] की। तमोगुण और रजोगुण के तिरोभाव के उपरान्त सत्त्व का शेष रहना अरस्तू के शब्दों में कटु भावों का रेचन और तज्जन्य मनःशान्ति ही तो है। अन्तर केवल 'उद्रेक' शब्द पर आश्रित है।

तारतम्य का समाधान इसीका विकास है। उसका आधार यह है कि आत्मा नित्य आनन्दरूप है। उसकी आनन्दमयी प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि वह संसार के दुःख-मोहादि मायाजन्य वस्तुओं पर अनिवार्यतः विजय प्राप्त कर उन्हें भोग्य बना लेती है। करुण रस के आस्वाद होने का मूल कारण आत्मा की यही आनन्दमयी प्रवृत्ति है। यह समाधान शुद्ध भारतीय आनन्दवाद पर आधृत है—करुणा-प्रधान मसीही दर्शन पर आश्रित परवर्ती पाश्चात्य काव्य शास्त्र में इसकी प्रतिध्वनि भी प्रायः नहीं मिलती।

(४) कला का सौन्दर्य करुण के उद्वेग को चमत्कार में परिणत कर देता है। कला का आधारभूत सिद्धान्त है सामंजस्य—अनेकता में एकता की स्थापना। अन्तर्वृत्तियों का समन्वय करने के कारण यह प्रक्रिया अपने आप में

---

१ मैटाफिजिक्स।

सुखद होती है—इसे ही कला-सृजन या सौन्दर्य की सृष्टि का आनन्द कहते हैं। कला-सृजन के समय कवि तथा कलानुभूति के समय सहृदय का चित्त इस प्रक्रिया द्वारा समाहित होकर उक्त आनन्द का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त समृद्ध अभिव्यंजना, विशिष्ट पद रचना, संगीत-नृत्य तथा नाटक में नाट्य-प्रसाधन आदि 'काव्यालंकार'-जन्य आह्लाद भी करुण की कटुता को नष्ट करने में सहायक होता है।

यूरोप के आलोचना-शास्त्र में भी कुछ आलोचकों ने इसी मत की स्थापना की है—वहां इसे 'काव्यरूप-सिद्धान्त' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्यरूप के सौन्दर्य से करुण रस की कटुता नष्ट हो जाती है और सहृदय का चित्त चमत्कार का अनुभव करता है।

(६) अन्तिम समाधान उपर्युक्त समाधानों की अपेक्षा अधिक दार्शनिक है—मानव प्रकृति त्रिगुणात्मक है, मधुर और कटु दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ जीवन का अंग हैं। मानव जीवन के वैविध्य में रस लेता है, अतः करुण आदि के प्रसंग या अभिव्यंजन में उसकी अभिरुचि होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आधुनिक आलोचना-शास्त्र का 'अभिरुचि-सिद्धान्त' भी इससे मिलता जुलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव को मानव-जीवन के सभी अनुभवों में अभिरुचि है—वह जहां विवाह आदि मंगल-उत्सवों में रस लेता है वहां मृत्यु आदि से संबद्ध दुर्घटनाओं में भी उसको कम रुचि नहीं है—वर-यात्रा और शव-यात्रा दोनों में मानव का उत्साह द्रष्टव्य है। इसी न्याय से सुखद और दुःखद दोनों प्रकार के दृश्यों में प्रेक्षक की दिलचस्पी होती है।

इन छः समाधानों के अतिरिक्त बौद्ध दर्शन के दुःखवाद पर आधृत एक और भी समाधान भारतीय शास्त्र की ओर से प्रस्तुत किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख प्रथम आर्य सत्य है। इसका सम्यक् ज्ञान जीवन की प्रथम सिद्धि है, जिसपर अन्य सिद्धियाँ आश्रित हैं। अतः करुण रस जीवन का आद्य रस है। ज्ञान की उपलब्धि में जो आनन्द निहित रहता है वही आनन्द जीवन में करुण का औचित्य प्रतिपादन करने वाले काव्य से प्राप्त होता है। भारत में दुःखवाद का प्रतिपादन प्रधानतः बौद्ध दर्शन में ही हुआ है, अतः करुण रस का यह दुःखवादी समाधान प्रायः वहीं से उपलब्ध हो सकता है।

यूरोप के दर्शन तथा आलोचना-शास्त्र में दुःखवादियों ने प्रस्तुत समस्या के प्रायः इसी प्रकार के समाधान उपस्थित किये हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध दुःखवादी दार्शनिक शापेनहॉवर का तर्क है कि त्रासदी जीवन के गम्भीर और दुःखमय पक्ष को महत्त्व देती है, जीवन की व्यर्थता एवं जगत् प्रपंच की असारता को व्यक्त कर परम सत्य का उद्घाटन उसका प्रयोजन है। सत्य की यही उपलब्धि प्रेक्षक के आनन्द का कारण है। नीत्शे का तर्क इससे थोड़ा भिन्न है—उसके

अनुसार त्रासदी के द्वारा हमारे मन में इस चेतना का उदय होता है कि पार्थिव जीवन का संचालन किसी अदृष्ट शक्ति (नियति) के हाथ में है, जिसके समक्ष मानव का समस्त बल-वैभव तुच्छ है। यह विचार एक ओर अहंकार का शमन करता है तथा दूसरी ओर दुःख में हमें धैर्य प्रदान करता है। जीवन के इस अलौकिक विधान की अनुभूति निश्चय ही एक उदात्त एवं सुखद भाव है और यही त्रासद आनन्द का रहस्य है। प्रो० बुचर ने अरस्तू के विवेचन में इस सिद्धान्त का भी अनुसन्धान कर लिया है। यहां भी हमारा मत यही है कि अरस्तू के त्रासदी-प्रकरण में इसका बीज-मात्र मिलता है उसका विकास प्रो० बुचर ने परवर्ती स्रोतों के आधार पर किया है—जिस विकसित रूप में बुचर ने उसे प्रस्तुत किया है वह अरस्तू में निश्चय ही उपलब्ध नहीं है। भारतीय चिन्तक के लिए यह धारणा अज्ञात नहीं है—साहित्य में इस 'नियतिवाद' की सत-सत मार्मिक व्यंजनाएं मिलती हैं। रामायण महाभारत पुराण भक्ति-काव्य और आधुनिक साहित्य में इसकी अनुगूंज स्थान-स्थान पर मिलती है। न जाने कब से भारतीय मन यह गा-गाकर अपने को धीरज देता चला आ रहा है

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता-हरन मरन दशरथ को बन में बिपत परी॥

परन्तु अन्तर केवल यही है कि इस धारणा ने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त का रूप कभी धारण नहीं किया।

क्यों?—भारतीय काव्य-शास्त्र के प्राण रस-सिद्धान्त के विरुद्ध होने के कारण।

साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

कुछ वर्ष हुए एक प्रगतिवादी मित्र ने मुझपर अनेक आरोपों के साथ एक आरोप यह भी लगाया था कि मैं साहित्य में सामाजिक मूल्यों का विरोध करता हुआ अहंकार का पोषण करता हूँ।—आज उसीको लेकर जब मैं आत्म निरीक्षण करने बैठता हूँ तो एक प्रश्न मेरे मन में अनिवार्यतः उठता है — साहित्य का मूल मर्म क्या है ? और अनेक पण्डित मित्रों की विरोधी युक्तियों के बावजूद इसका उत्तर अब भी मेरे पास एक ही है "आत्माभिव्यक्ति"। जैसा कि मैं अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से व्यक्त करता आया हूँ आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद संसार में केवल दो तत्त्वों का ही अस्तित्व अंत में मानना पड़ जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओं से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है। और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। परन्तु वास्तव में ये दोनों ही दर्शन की चरम स्थितियाँ हैं—और व्यावहारिक तल पर दोनों ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार कर लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और व्यवहार के लिए जीवन और जगत् की सत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है और उधर भौतिकवाद भी आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और प्रसूत क्यों न माने व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य का तो मानता ही है। साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक प्रतिवादों से न होकर जीवन से है अतएव उसके लिए यह द्वैत-स्वीकृति अनिवार्य है चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण'। परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं—मैं और मेरे अतिरिक्त और जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही इसकी सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूंकि इनमें सबसे कम

पारिभाषिक हैं इसलिए हमने इन्हें ही ग्रहण किया है। दर्शन में थोड़े-बहुत पारिभाषिक अन्तर से इन्हें ही जीवन और जगत्—आध्यात्मिक मनोविज्ञान में अहं और इतर विज्ञान में व्यक्ति और वातावरण कहा गया है। एक तीसरा तत्त्व ईश्वर भी है और मेरा संस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नहीं है परन्तु उसको मैं आत्म से पृथक वस्तुरूप में नहीं ग्रहण कर पाता। आत्म सतत प्रयत्नशील है—वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसीको हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूप धारता है—उसीके विभिन्न रूपों के अनुसार वह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमें आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म में प्रतिफलित कर पाते हैं तो हमें कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। मैं जो चाहता हूं वह कर रहा हूं—यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति है—इसमें विशेष भौतिक व्यवहारों के द्वारा मैं आत्म का प्रतिबिम्बन या आस्वादन कर रहा हूं। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यक्त कर पाते हैं तो हमें एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्टतः ही अधिक सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द-अर्थ की पकड़ में आये कोई रूप ही नहीं रखता—जब तक वह शब्द और अर्थ की पकड़ में नहीं आता उसका अस्तित्व संवेदन (Sensations) से पृथक् कुछ भी नहीं है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है जब वह शब्द और अर्थ में बंध जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुभव को शब्द-अर्थ-रूपी माध्यम की अनिवार्य अपेक्षा रहती है—इच्छा और कर्म का सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है, परन्तु अनुभव और शब्द-अर्थ का सम्बन्ध सर्वथा अनिवार्य है।

सारा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इस आत्माभिव्यक्ति का मूल्य क्या है—लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है? तो जहां तक लेखक का सम्बन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष में है—काव्य-शास्त्रों ने जिसे सृजन-सुख कहा है। अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। वाणी में कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता कम तथा सूक्ष्मता और आंतरिकता अधिक होती है अतएव वाणी के द्वारा जो आत्माभिव्यक्ति होगी उसके आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः ही अधिक होगी—दूसरे शब्दों में यह आनन्द अधिक परिष्कृत होगा। अतः

निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है। मुझ जैसे व्यक्ति को तो जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है इसके आगे और कुछ पूछना नहीं रह जाता। परन्तु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता है? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता आदि गुणों का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है। शब्द और अर्थ अत्यन्त आंतरिक उपकरण हैं उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी उसमें निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योंकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नहीं सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियों में से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा में साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को (चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यों न हों) अपने प्रति ईमानदार होने का गुण देती है और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

यहीं एक और शंका का समाधान कर लेना उचित होगा—वह यह कि कहीं इस आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहंकार का पोषण तो नहीं होता। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि अहंकार और अहं दो भिन्न वस्तुएं हैं—अहंकार जहां स्वभाव का एक दोष है वहां अहं समस्त वृत्तियों की समष्टि का नाम है—जिसे दूसरे शब्दों में आत्म भी कहते हैं—साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति जीवन की सभी अभिव्यक्तियों की भांति अहं अर्थात् आत्म का पोषण तो निश्चय ही करती है, परन्तु अहंकार का पोषण उसके द्वारा संभव नहीं क्योंकि उसके लिए जैसा कि मैंने अभी कहा निश्छलता अनिवार्य है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति आत्म साक्षात्कार के क्षणों में ही संभव हो सकती है—और आत्मसाक्षात्कार में दंभ के लिए स्थान कहाँ? अभिनव ने इसीलिए रस को उत्तम प्रकृति कहा है और उसके लिए तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य आवश्यक माना है। उस दिन इसी विषय पर श्री जैनेन्द्रकुमार से बातचीत हो रही थी। उनका कहना था कि साहित्यकार का अहं स्वभावतः अत्यंत तीव्र होता है—यहां तक कि वह उसके मारे परेशान रहता है। साहित्य-सृजन द्वारा वह इसी अहं से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है—अपनी सृष्टि में वह इस अहं (अहंकार)[1]

१ जैनेन्द्र जी दोनों का पर्याय रूप में ही प्रयोग कर रहे थे।

के नीचे दबी हुई पीड़ा को व्यक्त करता हुआ अपने को भुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप में अहं का विसर्जन है। श्रीमेनजी के चिन्तन पर गांधी की—अथवा और व्यापक रूप में लीजिए तो संतों की आत्मपीड़नमयी चिंता-धारा का प्रभाव है, इसलिए उन्होंने आध्यात्मिक शब्दावली—'अहं का विसर्जन' का प्रयोग किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विसर्जन वास्तव में अहं का संस्कार ही है—इसके द्वारा अहंकार का पूर्ण विसर्जन होकर अंत में अत्यंत सूक्ष्म रीति से अहं—अर्थात् आत्म का उन्नयन ही होता है। आत्मा के इस शोधन में आत्म का वर्धन प्राप्त होता है। प्रेम की चरम स्थिति में जहां वासना सर्वथा असुक्त रहती है संपूर्ण आत्म-समर्पण की सम्भावना है, इसमें संदेह नहीं—भक्त का भगवान के प्रति पूर्ण आत्म-निवेदन वैष्णव साहित्य की अत्यंत परिचित घटना है। परंतु इस समर्पण अथवा निवेदन में अहं का विनाश नहीं है—प्रेमी अथवा भक्त अपने अहं को प्रेम-पात्र अथवा इष्टदेव में प्रक्षिप्त कर उससे तदाकार होता हुआ अंत में फिर उसे आत्म-लीन कर लेता है। आत्म का यह संस्कार समष्टि के प्रेम में और भी प्रत्यक्ष हो जाता है—रागात्मिका वृत्ति को व्यष्टि के संकुचित वृत्त से निकालकर समष्टि की ओर प्रेरित करने से स्वभावतः ही उसका विस्तार हो जाता है। वहां अहं समाज के सम्मिलित अहं से तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति जितना देता है उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लेता है। यह ठीक है कि अधिक पाने के लोभ से प्रयत्नपूर्वक वह आत्म दान नहीं करता—परंतु इससे हमारी धारणा में बाधा नहीं पड़ती हमारा निवेदन केवल यही है कि इस प्रकार अंत में आत्म का लाभ ही होता है, हानि नहीं।[1]

अब प्रश्न का दूसरा अंश लीजिए लेखक की इस आत्माभिव्यक्ति का दूसरों अर्थात् समाज के लिए क्या उपयोग है? पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति (Sympathy) के द्वारा सामाजिकों को उससे परिष्कृत आनंद की प्राप्ति होती है। यह परिष्कृत आनंद उनकी संवेदनाओं को समृद्ध करता

१ परन्तु यह भूमि अपेक्षाकृत कठिन है—व्यक्तिगत प्रेम जितना सहज और सुगम है उतना समष्टिगत प्रेम नहीं है। इसमें आत्मप्रवंचना एवं अहंदान के लिए स्थान अधिक है—इसलिए नेता लोग आत्म का संस्कार करने की अपेक्षा प्रायः अहंकार का संवर्धन कर लेते हैं। देश और समाज के बड़े-बड़े नेता पुष्कल यश और लोकप्रियता के होने पर भी प्रायः उत्तम सात्विक की तुष्टि में असमर्थ रहते हैं और एक साधारण जनसेवी अथवा दुखी व्यक्ति उनमें सक्षम हो जाता है। इसका कारण यही है कि नेता के जीवन में अहंकार के अवसर अधिक और आत्म-साक्षात्कार के अवसर विरल होते हैं, और अन्ततः वे अपरामाणिक विश्लेषणाओं इस व्यक्ति को अपने प्रति ईमानदार और निश्छल होने के अवसर अधिक मिलते रहते हैं। किसी गुप्त संप्रदाय अथवा संगठन को लेकर चलने वालों की स्थिति इससे भी अधिक कठिन है—क्योंकि उनमें सिद्धांत की बौद्धिकता और उसके साथ अहंकार का मोह भी अधिक रहता है।

हुआ उनके व्यक्तित्वों को समृद्ध बनाता है—जीवन में रस उत्पन्न करता है पराजय और क्लान्ति की अवस्था में शांति और माधुर्य का संचार करता है। इस प्रकार की निरपेक्ष आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है इसका अनुमान लगाना भाज कठिन है। हिंदी की रीति-कविता को ही लीजिए —आज उसे प्रतिक्रियावादी कविता कहकर लांछित किया जाता है और एक दृष्टि से आरोप सर्वथा उचित भी है परन्तु उसके मधुर छंदों ने पराभव-मूढ़ समाज की कोमल वृत्तियों को सरस रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण योग दिया था इसका निषेध क्या आज कोई समाज-शास्त्री कर सकता है? बड़े-बड़े लोकनायकों ने अपने संतप्त-क्लांत मन को इसीकी संजीवनी से सरस किया है। लेकिन उस समष्टिवादी नेता पर पुश्किन की वैयक्तिक अभिव्यक्तियों का कितना गहरा प्रभाव था इसको वह स्वयं लिख गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निरपेक्ष आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनंद प्राप्त होता है वह स्वयं एक बड़ा वरदान है—नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतंत्र भी उसका एक स्वतंत्र महत्त्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।

परंतु मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अखर्व है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं समाज की सम्व-शक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य-रूप में समाज का अविभाज्य अंग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिए, बौद्धिक और भावगत परंपराएं दीं उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इससे स्वार्थ-भावना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अहं भाव का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की ही सिद्धि होगी। परंतु ये सब तर्क नैतिक हैं साहित्यिक नहीं। उपयुक्त कर्तव्य-निर्णय सामाजिक का है लेखक का नहीं। और स्पष्ट शब्दों में सामाजिक के रूप में लेखक निस्संदेह उपर्युक्त दायित्व से बंधा हुआ है—और उसके निर्वाह में यदि त्रुटि करता है तो वह नैतिक दृष्टि से अपराधी है परन्तु लेखक के रूप में उसके ऊपर इस प्रकार का बंधन नहीं है लेखक-रूप में उसका दायित्व केवल एक है—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने से उसके आत्म की क्षति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु-तत्त्व की भी हानि होगी परन्तु जब

तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती। क्योंकि निश्छलता का सात्विक आनन्द वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा। इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक व्यक्ति है जो सामाजिक दायित्व के प्रति अत्यन्त सचेत है —वैयक्तिक स्वार्थ-साधन को छोड़ समाज-सेवा में ही वह अधिकांश समय व्यतीत करता है। उसका व्यक्तित्व बहुत कुछ सामाजिक एवं सार्वजनिक हो गया है। समाज के लिए उसने बहुत-कुछ बलिदान किया है उसकी आवाज में शक्ति है। और मान लीजिए, यह व्यक्ति लेखक भी है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उसका साहित्य एक दूसरे व्यक्ति के साहित्य से जिसके व्यक्तित्व में सामाजिक कुछ नहीं है, अनिवार्यतः उत्कृष्ट ही होगा। उत्कृष्ट होने के लिए उसमें एक और गुण होना चाहिए—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। आत्माभिव्यक्ति के दो अंश हैं—एक आत्म और दूसरा उसकी निश्छल अभिव्यक्ति इनमें भी निश्छल अभिव्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके बिना कृति को साहित्य होने का गौरव नहीं मिल सकता। आत्म भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अभिव्यक्ति की निश्छलता समतुल्य होने पर आत्म की गरिमा ही सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय करेगी। वास्तव में महान् साहित्य की सर्जना उसी लेखक के लिए सम्भव है जिसका आत्म महान् हो। जब तक उसका अहं महान् अर्थात् उन्नत व्यापक और गम्भीर नहीं है तब तक उसकी कृति महान् नहीं बन सकती—मैं यह भी स्वीकार करता हूं कि अहं का यह उन्नयन विस्तार और गाम्भीर्य व्यष्टि के वृत्त से निकलकर समष्टि के साथ तादात्म्य करने से ही बहुत-कुछ सम्भव है। (विश्व-कवियों के जीवन में इस प्रकार का तादात्म्य सदैव रहा है।) परन्तु इस विषय में मेरे दो निवेदन हैं—एक तो यह कि इतना सब कुछ होते हुए भी अभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण है। महान् व्यक्तित्व के अभाव में कोई कृति महान् साहित्य नहीं हो सकती पर निश्छल अभिव्यक्ति के अभाव में तो वह साहित्य ही नहीं रहती केवल व्यक्तित्व की महत्ता उसे साहित्य का गौरव नहीं दे सकती। दूसरा यह कि व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गाम्भीर्य जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते हैं और ये महत्तर मूल्य अन्त में बहुत कुछ समष्टिगत मूल्य ही होंगे यह ठीक है। परन्तु *इसका निर्णय स्थूल दृष्टि से बाह्य* (सामाजिक और राजनीतिक) आंदोलनों को सामने रखकर नहीं करना होगा वरन् व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओं को तोड़कर बहती हुई अखंड मानव-चेतना के प्रकाश में ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओं में खोया हुआ इस सत्य का तिरस्कार कर सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य पर भी धड़ाधड़ निर्णय देता रहा है, परंतु

इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी हो रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएं पूरी हो जाने पर उस अखंड मानव चेतना ने तुरन्त ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है, और उन निर्णयों में उचित संशोधन कर दिया है। 'समय ही साहित्य का सबसे बड़ा आलोचक है' यह मान्यता उपर्युक्त तथ्य की ही स्पष्ट स्वीकृति है। यहां अखंड मानव चेतना की बात सुनकर शायद आप चौंक उठें, परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यह बड़ा निर्दोष शब्द है, इसके द्वारा मैं किसी आध्यात्मिक तत्त्व की ओर रहस्य-संकेत नहीं कर रहा। एक युग और एक देश की चेतना से भिन्न जो युग-युग और देश-देश की व्यापक चेतना है उसीसे मेरा अभिप्राय है। ऐसी चेतना आध्यात्मिक रहस्य न होकर एक भौतिक तथ्य ही है।

पारिभाषिक शब्दावली की सहायता लेकर कहा जा सकता है कि एक युग और देश की चेतना का संबंध राजनीतिक अथवा सामाजिक-नैतिक मूल्यों से है और युग-युग तथा देश-देश की चेतना का संबंध मानवीय मूल्यों से है। इन दोनों में साधारणतः कोई अविरोध नहीं है, वास्तव में मानवीय मूल्यों में सामाजिक नैतिक मूल्यों का अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में यदि विरोध हो भी जाय तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जाएंगे।

अनुसंधान और आलोचना

यों तो भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान की परम्परा अत्यंत प्राचीन है किन्तु हिन्दी में इसका पारिभाषिक रूप पिछले दो दशाब्दों में ही स्थिर हुआ है। आज इसका प्रयोग अंगरेजी शब्द 'रिसर्च' के पर्याय रूप में होता है और एक विशेष प्रकार की प्रविधि एवं उपलब्धि इसके साथ नियमित रूप से सम्बद्ध हो गई है। लक्ष्य भेद से अनुसंधान के स्थूलत: दो भेद किये जाते हैं—सोपाधि और निरुपाधि। वस्तुत: यह विभाजन सर्वथा स्थूल है: अनुसंधान के प्रयोजन, प्रक्रिया एवं उपलब्धि की दृष्टि से दोनों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। अर्थात् उपाधि तो केवल एक आनुषंगिक तथा व्यावसायिक सिद्धि है। उससे अनुसंधान की आत्मा उपाधि-ग्रस्त नहीं होती है इसीलिए उसके लिए 'सोपाधि' विशेषण ही उपयुक्त है। फिर भी हम सभी सोपाधि ब्रह्म के ही रूप हैं अत: अपने आवरण के अंतर्गत उपाधि-सापेक्ष्य रूप ही हमारे विवेचन का उचित विषय बन सकता है।

उपाधि-सापेक्ष्य अनुसंधान के लिए प्राय: निम्नलिखित उपबन्धों का विधान है

(१) इसमें (अनुपलब्ध) तथ्यों का अन्वेषण अथवा (उपलब्ध) तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन रूप में आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में यह ग्रन्थ इस बात का द्योतक होना चाहिए कि अभ्यर्थी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक् निर्णय करने की क्षमता है। अभ्यर्थी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसका अनुसन्धान किन अंशों में उसके अपने प्रयत्न का परिणाम है तथा यह विषय विशेष के अध्ययन को कहाँ तक और आगे बढ़ाता है।

(२) निरूपण-शैली आदि की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का रूप-आकार संतोषप्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत् प्रकाशित किया जा सके।

(आगरा यूनिवर्सिटी पी-एच-डी० नियमावली पृ ४)

आगे चलकर डाक्टर आफ़ लैटर्स के प्रसंग में भी प्राय: इन्हीं विशेषताओं

का उल्लेख है—केवल एक बात नयी है ? वहाँ 'विषय के अध्ययन को और आगे बढ़ाने' के स्थान पर 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। डी० लिट० की उपाधि की गुरुता को देखते हुए यह उपबन्ध उचित ही है। अन्य विश्वविद्यालयों के नियमों में भी लगभग ये ही शब्द हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय-विधान के अनुसार अनुसन्धान के तीन तत्त्व हैं

१—अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण

२—उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का पुनराख्यान

३—ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार, अर्थात् मौलिकता

४—इनके अतिरिक्त एक तत्त्व और भी अपेक्षित है और वह है पुष्ट प्रतिपादन-शैली।

अनुसंधान के इन चार गुणों में से मौलिकता तथा प्रतिपादन-सौष्ठव तो वाङ्मय के प्रायः सभी रूपों के लिए समान हैं, नवीन तथ्यों का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन आख्यान—ये दो गुण अनुसन्धान के अपने विशिष्ट धर्म हैं। विश्वविद्यालयों का विधान इन दो में से एक को अनिवार्य मानता है इसीलिए संबंधित अनुच्छेद में विकल्पवाचक 'या' का प्रयोग किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि नवीन तथ्यों का अन्वेषण तो ठीक है किन्तु उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का आख्यान अनुसंधान के अन्तर्गत क्यों माना जाए। इसका एक सीधा उत्तर यह है कि केवल आख्यान अनुसंधान नहीं है 'नवीन' आख्यान अनुसंधान है नवीनता ही यहाँ भी प्रमाण है। तथ्यों के आख्यान का वास्तविक अर्थ है तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध का उद्घाटन—उनके द्वारा व्यंजित जीवन-सत्य या मानव-सत्य का उद्घाटन। तथ्य अपने वस्तु रूप में जड़ है किन्तु मानव-जीवन के संदर्भ में—अर्थात् मानव-चेतना के संसर्ग से वह चैतन्य बन जाता है मानव-चेतना के प्रसंग में जो एक नवीन अर्थ ज्योति उसमें कौंध जाती है उसीको आलंकारिकों ने व्यंजना कहा है। वास्तव में तथ्यों के आख्यान का अर्थ इसी निहित व्यंजना को विवृत करना है। यद्यपि व्यंजना का रूप तथ्य रूप अभिधा पर आश्रित रहने के कारण अन्ततः ससीम ही होता है किन्तु अपनी सीमा के भीतर भी उसमें अनेक अर्थ-छायाओं की सम्भावना निहित रहती है। इन अर्थ छायाओं के कारण ही तथ्य के नवीन चिर-नवीन आख्यान की सम्भावना बनी रहती है और इसलिए अनुसंधान के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। इस दृष्टि से तथ्यों का नवीन आख्यान अथवा पुनराख्यान भी अनुसंधान के अन्तर्गत आता है।

आप लोगों की सुविधा के लिए मैं संक्षेप में तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान का अंतर और स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूँ। सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य सम्बद्ध रहते हैं—सत्य के इस रूप विशेष को स्पष्ट करने के लिए

इन आधारभूत तथ्यों की उपलब्धि आवश्यक है। इनमें से कुछ तथ्य तो विदित रहते हैं किन्तु अनेक तथ्य प्रायः निहित रहते हैं—अथवा काल के आवरण में लुप्त हो जाते हैं और उनका अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। तथ्यानुसंधान प्रायः काल-सापेक्ष्य-सा बन गया है और यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि तथ्यानुसंधान प्राचीन विषयों की खोज में ही सम्भव हो सकता है। किन्तु यह साधारणतः मान्य होते हुए भी आवश्यक नहीं है—क्योंकि प्रत्येक विषय में अनेक निहित तथ्य भी तो होते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि तथ्यानुसंधान के सामान्यतः दो रूप हैं—(१) काल के प्रवाह में लुप्त तथ्यों का अन्वेषण और (२) विषय में निहित तथ्यों का अन्वेषण। उदाहरण के लिए तुलसी के युग की परिस्थितियां, उनके जीवन की घटनाएं, उनकी रचनाएं, उन रचनाओं की अनेक प्रतियां, उनके निर्माण से सम्बद्ध स्थितियां आदि तुलसी-विषयक अनुसंधान के अनेक बहिरंग तथ्य हैं जो काल-सापेक्ष्य हैं—अर्थात् काल के प्रवाह में से जिन्हें ढूंढकर निकालना पड़ता है। इनके अतिरिक्त तुलसी के काव्य में निहित अनेक अंतरंग तथ्य हैं—जैसे तुलसी के आत्म-कथन, दार्शनिक विचार, नैतिक विचार, शैली के तत्त्व, भाषा के तत्त्व, शब्द-समूह आदि जो आंतरिक अन्वेषण की अपेक्षा करते हैं। दोनों अन्वेषण-प्रक्रियाएं तथ्यानुसंधान के अंतर्गत आती हैं और चूंकि प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के साहित्य के अनुसंधान में इनका न्यूनाधिक प्रयोग सम्भव है, अतः तथ्यानुसंधान की सम्भावना को प्राचीन साहित्य तक ही सीमित करना उचित नहीं है। यह ठीक है कि मैथिलीशरण गुप्त या प्रसाद की जीवन-घटनाओं की जानकारी के लिए प्राचीन राजपत्र, हस्तलेख, शिलालेख आदि की छानबीन की आवश्यकता नहीं है, उनकी रचनाओं के अनेक पाठों का तुलनात्मक अध्ययन सर्वथा अनावश्यक है, उनकी युगीन परिस्थितियों के आकलन के लिए भी गहरी खोजबीन की जरूरत नहीं है, परन्तु इनके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक तथ्य रह जाते हैं जिनका अन्वेषण उतना ही यत्न-साध्य है जितना तुलसी काव्य से सम्बद्ध तथ्यों का हो सकता है। यहां तक तो हुई तथ्यानुसंधान की बात। —अब इसके आगे तथ्याख्यान को लीजिए। उपर्युक्त सभी तथ्य चाहे वे बहिरंग हों या अंतरंग केवल आधार हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन राजपत्रों में तुलसी विषयक उल्लेख आधारमात्र हैं, वास्तविक उपलब्धि तो उनके द्वारा व्यंजित तुलसी का जीवन-चरित ही है। इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेख तथ्य हैं और उनके द्वारा तुलसी के जीवनचरित की व्यंजना का स्पष्टीकरण इन तथ्यों का आख्यान है—यह व्यंजना अनेकरूपा हो सकती है और उसीके अनुसार आख्यान भी नवीन हो सकता है। तथ्याख्यान का यह अपेक्षाकृत स्थूल रूप है। इसके आगे तुलसी की जीवन-घटनाएं स्वयं तथ्य बन जाती हैं और फिर अनुसंधाता उनकी

व्यंजनाओं का उद्घाटन करता है—अर्थात् उनके द्वारा व्यंजित तुलसी-व्यक्तित्व के गुण-दोषों का प्रकाशन करता है। यह तथ्याख्यान का प्रथम सोपान है। आगे चलकर व्यक्तित्व के ये गुण-दोष स्वयं तथ्य बन जाते हैं और अनुसंधाता उनके आधार पर तुलसी की आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। यह बहिरंग तथ्याख्यान की प्रक्रिया है। अंतरंग तथ्याख्यान तुलसी के काव्य को ग्रन्थ मानकर चलता है—वह तुलसी की रचनाओं का क्रम निर्धारित करता है, उनमें निहित दार्शनिक एवं नैतिक विचारों का उनकी शैली के तत्त्वों का भाषा के तत्त्वों—शब्द-समूह आदि का विश्लेषण करता है। यह सब भी वस्तुतः तथ्यानुसंधान के अंतर्गत ही आएगा—भेद केवल इतना है कि ये तथ्य बहिरंग न होकर अंतरंग हैं किन्तु हैं ये तथ्य ही। इनका भी आख्यान उतना ही आवश्यक है अन्यथा ये भी जड़वत् हैं। इनके आख्यान का भी अर्थ होगा इनकी व्यंजनाओं का स्पष्टीकरण। नहछू तथा मंगल आदि मानस की पूर्ववर्ती रचनाएँ हैं और विनयपत्रिका परवर्ती—इस तथ्य की उपलब्धि महत्त्वपूर्ण है किन्तु आख्यान-रूप में ही अर्थात् इस तथ्य के द्वारा व्यंजित तुलसी के कवित्व-विकास का महत्त्व और भी अधिक है और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है इस क्रम विकास द्वारा व्यंजित तुलसी की कवि-आत्मा का विकास। इसी प्रकार तुलसी की काव्य-शैली के तत्त्वों का विश्लेषण तथ्यानुसंधान मात्र है इन तत्त्वों के द्वारा व्यंजित तुलसी-काव्य के स्वरूप का अनुसंधान तथ्याख्यान है। उदाहरण के लिए रामनरेश त्रिपाठी की कृति तुलसीदास और उनकी कविता में तथ्यानुसंधान की प्रवृत्ति अधिक है और शुक्लजी की प्रसिद्ध रचना 'गोस्वामी तुलसीदास' में तथ्याख्यान का प्राधान्य है। तथ्यों के संकलन को देखकर सच्चा अनुसंधाता प्रश्न करेगा—इससे क्या? और फिर उनके आधार पर अपनी आंतरिक जिज्ञासा—काव्य के मर्म के उद्घाटन में प्रवृत्त हो जाएगा। तुलसी के काव्य में साधर्म्य-मूलक अलंकारों की अपेक्षा वैधर्म्य-मूलक अलंकारों से अधिक हैं—यह एक उपयोगी तथ्य है इसकी व्यंजना यह है कि तुलसी के काव्य में वैदग्ध्य की अपेक्षा रस की प्रधानता है। आगे चलकर यह भी तथ्य हो जाता है और इस महत्त्वपूर्ण सत्य को व्यंजित करता है कि तुलसी की कविता का आधार मन-शांति-रस है बुद्धि-चमत्कृति-रस नहीं है। इस प्रकार एक तथ्य दूसरे गम्भीरतर तथ्य की व्यंजना करता हुआ काव्य के मर्म तक पहुँचने में सहायता देता है—यही तथ्याख्यान है।

पिछले कई वर्षों से मेरा अनुसंधान से व्यावसायिक सम्बन्ध रहा है—अनेक विद्वानों व निरीक्षकों-परीक्षकों के साथ विचार-विनिमय के प्रचुर अवसर मिलते रहे हैं। इस विचार-विनिमय के अंतर्गत अनुसंधान के विषय में अनेक प्रश्न सामने आए हैं। एक बार हिन्दी के एक मान्य विद्वान् ने हमारे एक शोध-विषय 'रीति

काल के प्रमुख आचार्य' पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा था कि इसपर 'थीसिस' कैसे लिखा जाएगा—'थीसिस' से उनका आशय था एक विचार-सूत्र का अनुसंधान जिसमें प्रमुख आचार्यों की अनेकता बाधक थी। इसी प्रकार शोध मण्डल की किसी बैठक में इतिहास के एक विद्वान् ने हिन्दी के एक प्रस्तावित विषय 'हिन्दी-काव्य के विकास में सिक्ख कवियों का योगदान' के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की कि इसके अंतर्गत अनुसंधाता क्या शोध करेगा। मैंने उत्तर दिया कि यह सम्पूर्ण सामग्री अभी तक सर्वथा अज्ञात है—पहला शोधकर्ता इसका आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करेगा परवर्ती अनुसंधाता उसके आधार पर अंतरंग विश्लेषण करेंगे। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवी निरीक्षकों की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसंधान नहीं है—स्थिति स्पष्ट करने पर उन्होंने यह मान लिया कि सिक्ख-कवियों के ग्रंथों का पाठानुसंधान और सम्पादन तो अनुसंधान के अंतर्गत आ सकता है किन्तु आलोचनात्मक सर्वेक्षण नहीं सर्वेक्षण तो अनुसंधान की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। ये दोनों ही प्रसंग अनुसंधान के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। अंग्रेजी का एक शब्द है 'थीसिस' जो संस्कृत न्यायशास्त्र के 'प्रतिज्ञा' शब्द का निकटवर्ती है—इसका अर्थ है कोई मौलिक प्रस्थापना-विशेष जिसको अनुगमन या निगमन विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानों के अनुसार शोध-प्रबन्ध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है—इसीलिए अंग्रेजी में शोध प्रबन्ध के लिए 'थीसिस' शब्द का प्रयोग ही रूढ़ हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि उत्तम शोध-प्रबंध में किसी न किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होनी चाहिए, उससे अनुसंहित विषय का सूत्र और उसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। किन्तु इसकी सम्भावना सर्वत्र नहीं है। वास्तव में इस प्रकार का अनुसंधान उन्हीं क्षेत्रों में सम्भव है, जहां अध्ययन काफी विकसित हो चुका है। जहां प्रारम्भिक कार्य ही नहीं—व्यवस्थित अध्ययन भी हो चुका है। उदाहरण के लिए हिन्दी के प्रमुख भक्तिकाल रीतिकाल तथा आधुनिक काल के अनेक कवियों पर इतना कार्य हो चुका है कि इस प्रकार की प्रतिज्ञात्मक शोध के लिए अब भूमि तैयार हो चुकी है और इस प्रकार का अनुसंधान-कार्य हो भी रहा है। पिछले वर्ष दो शोध-प्रबन्ध मैंने देखे—एक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर था और दूसरा बिहारी पर। एक में यह प्रस्थापना की गई थी कि आचार्य शुक्ल का मूल जीवन-दर्शन है भावयोग और उनका सम्पूर्ण वाङ्मय—आलोचना निबंध कविता आदि इसी भावयोग के दर्शन से अनुप्राणित है। दूसरे में यह प्रस्थापना की गई थी कि बिहारी का काव्य ध्वनिकाव्य है और उसीके प्रकाश में सम्पूर्ण काव्य का आख्यान किया गया था। निश्चय ही यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है—यहां शोधकर्ता अनेकता में एकता के

अनुसंधान का सीधा सम्पर्क करता है। अनेकता में एकता की सिद्धि का नाम ही सत्य है—इसीका अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। अतः शोध का यह रूप सत्य की उपलब्धि अथवा आत्मा के साक्षात्कार के अधिक से अधिक निकट है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि अत्यन्त कठिन होती है अतः यहाँ भी साधक को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के अनुसंधान में यह आशंका सदा रहती है कि मूल प्रतिज्ञा ही कहीं अशुद्ध न हो या शोधक प्रतिज्ञा के प्रति दुराग्रही होकर तथ्यों को विकृत रूप में पेश न करे या उनकी विकृत व्याख्या न करने लगे। ऐसा प्रायः सम्भव है और इसीलिए यह शोध पद्धति अधिक वस्तुपरक नहीं मानी गई। वस्तुपरक शोध-पद्धति का मूल सिद्धांत यह है कि तथ्य ही शोधक का अनुशासन करें, शोधक तथ्यों का शासन न करे। स्पष्टतः उपर्युक्त प्रणाली में दूसरी बात का खतरा बराबर बना रहता है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि तो खतरे से खाली कभी रही हो नहीं।

अनुसंधान का तीसरा प्रमुख तत्त्व है ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार। वास्तव में यही उसका प्राण-तत्त्व अथवा व्यावर्तक धर्म है। नवीन तथ्यों की उपलब्धि उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का नवीन आख्यान—ये दोनों तत्त्व इसी सिद्धि के साधन हैं। इनमें से कोई एक तत्त्व या सभी तत्त्व मिलकर अततः ज्ञान की वृद्धि करते हैं—यह ज्ञान की वृद्धि ही वास्तव में अनुसंधान का मूल उद्देश्य है। अन्य गुण जैसे व्याख्या विवेचन सम्प्रेषण प्रतिपादन-सौष्ठव आदि भी अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण धर्म हैं किन्तु व्यावर्तक धर्म नहीं हैं क्योंकि एक तो उनके अभाव में भी अनुसंधान हो सकता है और दूसरे अध्ययन के अन्य क्षेत्रों में भी उनका उतना ही वरन् उससे भी अधिक महत्त्व है। इसके विपरीत ज्ञानवृद्धि के अभाव में अनुसंधान का स्वरूप खण्डित हो जाता है—ऐसा विवेचन या प्रतिपादन जो ज्ञानवृद्धि में सहायक न हो अनुसंधान की परिधि में नहीं आएगा या कम से कम शुद्ध अनुसंधान के अन्तर्गत नहीं माना जाएगा। विचार और भाव का सम्प्रेषण अपने आप में साहित्यिक अध्ययन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है—एक दृष्टि से उसका सर्वाधिक मूल्य है किन्तु वह निरपेक्ष रूप में अनुसंधान के अंतर्गत नहीं आएगा। अतः निष्कर्ष यह है कि ज्ञानवृद्धि ही अनुसंधान का व्यावर्तक धर्म है।

आलोचना—आलोचना का शब्दार्थ है सर्वांग निरीक्षण। साहित्य के क्षेत्र में आलोचना से अभिप्राय है किसी साहित्यिक कृति का सांगोपांग निरीक्षण। इसके अंतर्गत तीन कर्तव्य-कर्म आते हैं—१—प्रभाव-ग्रहण २—व्याख्या-विश्लेषण और ३—मूल्यांकन अथवा निर्णय। आलोचना मूलतः कलाकृति द्वारा प्रमाता के हृदय में उत्पन्न प्रभाव को व्यक्त करती है अर्थात् प्रिय-अप्रिय प्रतिक्रिया को

व्यक्त करती है। इसके उपरांत वह प्रतिक्रिया की प्रियता अथवा अप्रियता के कारणों का विश्लेषण करती है : सौंदर्य-शास्त्र के अनुसार रूप का, मनोविज्ञान के अनुसार स्रष्टा और भावक की मानसिक परिस्थितियों का और समाजशास्त्र के अनुसार दोनों की सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करती है कि कोई कलाकृति भावक को प्रिय अथवा अप्रिय क्यों लगती है। और, अंत में इन दोनों प्रक्रियाओं के आधार पर उसका मूल्यांकन किया जाता है। आलोचना के अंतर्गत ये तीन प्रक्रियाएं आती हैं—किसी न किसी रूप में आलोचना इन तीनों कर्तव्यों का निर्वाह करती है : अवधारण का भेद हो सकता है किन्तु समालोचना में प्राय इन तीनों में से किसीकी उपेक्षा करना कठिन ही होता है।

अनुसंधान और आलोचना का परस्पर सम्बन्ध—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना दोनों की केवल जाति ही नहीं उपजाति भी एक है। *अतः दोनों में पर्याप्त साम्य है। दोनों की पद्धति बहुत-कुछ समान* है। व्याख्या-विश्लेषण और निर्णय दोनों में समान है। अनुसंधान में जो तथ्या-ख्यान है वही आलोचना में व्याख्या-विश्लेषण है दोनों में विवेचन कार्य-कारण सूत्र का अन्वेषण परस्पर सम्बन्ध तथा अर्थ-व्यंजना आदि का उद्घाटन समान रूप से रहता है। इसी प्रकार पक्ष-विपक्ष के संतुलन आदि के आधार पर निष्कर्ष और निर्णय की पद्धति दोनों में प्राय समान ही है। तथ्य विश्लेषण के उपरांत तत्त्व-रूप में निष्कर्ष ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक होता है—उसके बिना तथ्य विश्लेषण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। अतः निष्कर्ष तथा निर्णय का महत्त्व अनुसंधान और आलोचना दोनों के लिए समान रूप से मान्य है उसके बिना विचार की प्रक्रिया पूरी नहीं होती। तथ्याधार अनुसंधान के लिए तो एकांत अनिवार्य है ही किन्तु आलोचना के लिए भी उसकी आवश्यकता का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि तथ्यों के पुष्ट आधार के बिना आलोचना में विश्वास की दृढ़ता नहीं आती।

यह सब होने पर भी अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं। मनो-विज्ञान से पुष्ट संस्कृत व्याकरण का यह नियम है कि कोई भी दो शब्द एक अर्थ का द्योतन नहीं करते—उनमें कुछ न कुछ भेद अवश्य होता है। अनुसंधान की मूल धातु 'धा' में 'सम्' उपसर्ग लगाकर संधान शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है लक्ष्य बांधना मिलाना लगाना और आलोचना की मूल धातु है 'लोच्' अर्थात् देखना। इसी मूल तात्पर्य के आधार पर दोनों के रूढ़ अर्थ में आगे चलकर भेद हो जाता है—एक का अर्थ हो जाता है लक्ष्य बांधकर उसके पीछे बढ़ना और दूसरे का हो जाता है पूरी तरह से देखना परखना। यही दोनों के मौलिक भेद का आधार है। अनुसंधान में अन्वेषण

पर अधिक बल है और आलोचना में निरीक्षण-परीक्षण पर। यद्यपि ये दोनों तत्त्व भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं—अन्वेषण बिना निरीक्षण-परीक्षण के कृतकार्य नहीं हो सकता और इसी तरह निरीक्षण-परीक्षण के लिए भी पूर्व क्रिया रूप में अन्वेषण की आवश्यकता प्रायः रहती है फिर भी अनुसंधान और आलोचना का क्षेत्र पूर्णतः सह-व्यापक नहीं है। अनुसंधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो शुद्ध आलोचना के अन्तर्गत नहीं आते और आलोचना के भी कुछ रूपों को शुद्ध अनुसंधान मानने में वास्तविक आपत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए जीवनचरित-विषयक अनुसंधान पाठानुसंधान भाषावैज्ञानिक अनुसंधान आदि रूप आलोचना के अन्तर्गत नहीं आ सकते। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इनमें आलोचना का अभाव रहता है अथवा इन क्षेत्रों का अनुसंधाता आलोचना शक्ति एवं निर्णय की क्षमता से सम्पन्न नहीं होता वास्तव में इन सभी क्षेत्रों में भी निरीक्षण-परीक्षण निष्कर्ष-ग्रहण आदि उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने अन्यत्र परन्तु आलोचना का प्रयोग यहां हम साहित्यिक आलोचना (लिटरेरी क्रिटिसिज़्म) के रूढ़ अर्थ में ही कर रहे हैं सामान्य अर्थ में अर्थात् सामान्य निरीक्षण-परीक्षण के अर्थ में नहीं। इसी प्रकार आलोचना के कुछ-एक रूप भी हैं जैसे प्रभाववादी आलोचना के विभिन्न प्रकार, जो अनुसंधान की गरिमा को वहन नहीं कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्रों में पूर्ण सहव्याप्ति नहीं है।

अपने मंतव्य को और स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक अर्थ में आलोचना के स्वरूप का और स्पष्ट कर लेना चाहिए। मुझे स्मरण है कि एक बार हमारे किसी प्रश्नपत्र में एक सवाल था। आलोचना विज्ञान है या कला? मुझे याद नहीं उस समय मैंने क्या उत्तर दिया था, किन्तु आज मेरे मन में इसका उत्तर स्पष्ट है। आलोचना (अर्थात् साहित्यिक आलोचना) कला का विज्ञान है। विशिष्ट शब्दावली में आलोचना न तो उस अर्थ में रस का साहित्य है जिस अर्थ में कविता उपन्यास कहानी आदि हैं और न उस अर्थ में ज्ञान का साहित्य है जिस अर्थ में दर्शनशास्त्र या मनोविज्ञान या तर्कशास्त्र हैं। यह तो अपने प्रामाणिक रूप में रस के साहित्य का शास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन है। विषय का प्रभाव उसके विवेचन पर सर्वथा अनिवार्य होता है—अर्थात् किसी विषय का विवेचन और उसकी विचार-पद्धति उसके आधारभूत तत्त्वों के प्रभाव को ग्रहण किये बिना रह नहीं सकती क्योंकि विषय के तत्त्व उसका लक्ष्य आदि उसकी विवेचन-पद्धति को भी अनिवार्यतः अनुशासित करते रहते हैं। साहित्य के तत्त्व हैं अनुभूति और कल्पना—उसका प्राण है रस। अतः साहित्य की विवेचन पद्धति मर्मभूत अनुभूति तथा कल्पना और प्राणभूत रस के प्रभाव को बचा नहीं सकती। अतएव उसमें भी कला के तत्त्व—अर्थात् रस और उसके उपकरण

अनुभूति तथा कल्पना आदि का अंतर्भाव अनिवार्यतः हो ही जाता है। इस प्रकार आलोचना में कला-तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है उसमें आत्माभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है। अनुसंधान के विषय में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि वह कला है या शास्त्र—वह निश्चय ही शास्त्र है। कला की उसके लिए उतनी ही अपेक्षा है जितनी शास्त्र के लिए क्योंकि शास्त्र की भी अपनी एक कला होती है एक शैली होती है जो वाङ्मय के अन्य रूपों से उसके रूप-वैशिष्ट्य को पृथक करती है। अनुसंधान के उपबंध ४ में निर्दिष्ट 'उपयुक्त' अथवा 'संतोषप्रद' रूप-आकार का अभिप्राय इतना ही है, इससे अधिक नहीं। उदाहरण के लिए निबंध की ललित गद्य-शैली अनुसंधान के लिए न 'उपयुक्त' होगी और न 'संतोषप्रद'। निष्कर्ष यह है कि आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवार्य गुण है किन्तु साहित्यिक अनुसंधान में उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

इसके विपरीत तथ्यान्वेषण तथ्यों का वस्तुपरक आख्यान वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए महत्त्वपूर्ण ही नहीं है वरन् वे तो उसके प्राण-तत्त्व हैं। किसी न किसी प्रकार के—बहिरंग अथवा अंतरंग तथ्यों के सम्यक् अन्वेषण के बिना अनुसंधान एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। फिर इन तथ्यों के आख्यान में अनुसंधाता की दृष्टि एकांत वस्तुपरक होनी चाहिए, जिससे तथ्य ही उसका निर्देशन करें वह तथ्यों का निर्देशन न करे। यों तो आलोचना के लिए भी निर्लिप्त दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है किन्तु अनुसंधान के लिए वह सर्वथा अनिवार्य है। अनुसंधान का मार्ग एकांत तपश्चर्या का मार्ग है, उसके लिए अधिक कठोर संयम का विधान है। आलोचना के लिए इतने कठोर बौद्धिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता कदाचित् नहीं है। आत्मरस का यत्किंचित् संस्पर्श उसके लिए एकांत वर्जित नहीं है। इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए सर्वथा अनिवार्य है। संदर्भ आदि के पूर्ण विवरण, अनुक्रमणिका परिशिष्ट, ग्रंथ-सूची पाद-टिप्पणियाँ आदि की व्यवस्था इसी प्रविधि के अंतर्गत आती है। वास्तव में यह प्रविधि या शिल्प-विधान आलोचना के लिए भी अनुपयोगी नहीं है, किन्तु वहाँ इसका उतना अनिवार्य महत्त्व नहीं है। शुद्ध आलोचना में आलोच्य की आत्मा के साक्षात्कार के प्रति लेखक और पाठक का इतना आग्रह रहता है कि इस प्रकार के स्थूल तथ्य विवरण की वह उपेक्षा कर सकता है वस्तुतः इनसे उसका व्यवधान-भय होने की भी संभावना हो सकती है।

अनुसंधान और आलोचना का प्रत्यक्ष उद्देश्य भी एक नहीं होता—अनुसंधान का लक्ष्य जैसा कि हमने अभी सिद्ध किया ज्ञान-वृद्धि है किन्तु आलोचना का लक्ष्य है ज्ञान की अवगति। जो अनुसंधान ज्ञान की वृद्धि में योग नहीं देता वह

विभाजनतः असफल है किन्तु आलोचना के लिए इतना पर्याप्त नहीं है—जो आलोचना काव्य की आत्मा का साक्षात्कार नहीं करा सकती अर्थात् उसके सारभूत प्रभाव का सम्प्रेषण नहीं कर सकती कलाकार के साथ प्रमाता का तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकती वह अपने मौलिक उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहती है। प्रत्यक्ष 'पर्यागम' के इसी भेद के कारण दोनों के 'आरम्भ' में भी स्पष्ट भेद हो जाता है। आलोचक का पहला धर्म है प्रभाव-ग्रहण अर्थात् आलोच्य के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया। अनुसंधाता के लिए वह आवश्यक नहीं है—प्रायः बाधक भी हो सकती है, वह अपना कार्यारम्भ तथ्य-संकलन से करता है जिसमें उसकी दृष्टि निर्लेप रहनी चाहिए। इस प्रकार अनुसंधान और आलोचना के आरम्भ और पर्यागम में बाह्य भेद अवश्य है।

अब तक मैंने अत्यन्त तटस्थ भाव से अनुसंधान और आलोचना के साम्य और वैषम्य का निरूपण किया है। यदि आपको आपत्ति न हो तो संक्षेप में अपने निष्कर्षों की आवृत्ति कर दूँ जिससे आगे के विवेचन में सहायता मिल सके।

साम्य (१) अनुसंधान और आलोचना एक ही विद्या—साहित्य विद्या—के दो उपभेद हैं।

(२) दोनों की पद्धति बहुत-कुछ समान है। दोनों की प्रक्रिया में तथ्यों के संकलन—त्याग एवं ग्रहण व्याख्यान-विश्लेषण निष्कर्ष-ग्रहण का प्रायः उपयोग किया जाता है।

वैषम्य (१) किन्तु अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं—यथार्थ के अनुरूप अनुसंधान में अन्वेषण पर अधिक बल रहता है और आलोचना में निरीक्षण-परीक्षण पर।

(२) अनुसंधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो आलोचना के अंतर्गत नहीं आते और इसी प्रकार आलोचना के भी कतिपय रूप अनुसंधान के उपबंधों की पूर्ति नहीं कर पाते।

(३) आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व आलोचना का अनिवार्य गुण है, किन्तु अनुसंधान में उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

(४) वैज्ञानिक तटस्थता और उसकी अनुवर्ती वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया का महत्त्व अनुसंधान के लिए अनिवार्य है—आलोचना के लिए उसका महत्त्व परिनिष्ट रूप में ही रहता है।

(५) अनुसंधान का प्रत्यक्ष उद्देश्य है ज्ञान की वृद्धि और आलोचना की सिद्धि है मर्म की अवगति या अनुभूति।

मुझे आशा है कि इस भेदाभेद-निरूपण से दोनों के विषय में आपकी मानसिक धारणाएँ और मानस-बिम्ब थोड़े-बहुत स्पष्ट अवश्य हो गये होंगे। किन्तु यह तो पूर्वपक्ष है या आप यह कह सकते हैं कि यह हमारे काम के

प्रतिपाद्य का तथ्याधार मात्र है। उत्तरपक्ष में मैं अपने से और आपसे एक प्रश्न करता हूँ: क्या शुद्ध आलोचना अनुसंधान नहीं है? यह प्रश्न एक दूसरे ढंग से भी रखा जा सकता है: क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान नहीं है? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से भिन्न ही रहता है? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसन्धान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी में जायसी ग्रन्थावली की भूमिका उत्तम आलोचना का असन्दिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसन्धान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूँ। वहाँ तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है, इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है। शुक्लजी के सैद्धांतिक निबन्धों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास में उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार संदिग्ध हो सकता है? अर्थात् क्या उनका शोध मूल्य किसी प्रकार कम है? आप कदाचित् हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेंगे। वे आलोचक हैं शान्तिप्रिय द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक हैं किन्तु आप औचित्यपूर्वक उनके सफल अनुसन्धाता होने में शंका कर सकते हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि *शान्तिप्रियजी की जिन रचनाओं का शोध-महत्त्व संदिग्ध है* उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी प्रभाववादी-आलोचना प्रायः निम्न-कोटि की आलोचना ही मानी जाती है। शान्तिप्रिय अपने चित्त को संयत और दृष्टि को स्थिर कर जहाँ आधुनिक काव्य—विशेषतः छायावाद-काव्य—के मर्म का उन्मेष करने में सफल हुए हैं, वहाँ उनकी आलोचनाओं का शोध-मूल्य भी असन्दिग्ध है। छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की विवृत्ति अपने आप में महत्त्वहीन अनुसन्धान नहीं है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं आपसे किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूँगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। आप भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूँ। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध प्रबन्धों के नाम लेना चाहें। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूँगा कि इस प्रकार के अकाट्य प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं। ऐसे प्रबन्ध जिनका मूल्य केवल तथ्य-शोध पर आधृत है, उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के सदर्भ-ग्रंथों के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे। पश्चिम में और वहाँ के अनुकरण पर इस देश में

भी ऐसे ग्रंथों का महत्त्व बढ़ रहा है। मैं इसका निषेध नहीं करता किन्तु ये ग्रंथ तो अनुसंधान की सामग्री या समापनमात्र हैं। हिन्दी में ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। उनसे हिन्दी-साहित्य और उसके अनुसंधाता का निश्चय ही बड़ा कल्याण हुआ है किन्तु कृपया उन्हें प्रायः अनुसंधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसंधान के प्रारम्भ हैं। तत्त्व-दृष्टि से यदि हम विचार करें तो विद्या के सभी भेदों का एक ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है और वह है सत्य की उपलब्धि। सत्य और तथ्य में यह भेद है कि एक केवल बोध का विषय है और दूसरा अनुभूति का। बोध का अर्थ है ऐन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय और अनुभूति का अर्थ है मन का साक्षात्कार। सत्य के साक्षात्कार के लिए तथ्य-बोध से आगे बढ़कर तथ्य के द्वारा व्यंजित सत्य की अवगति आवश्यक है। यही आलोचना की चरम परिणति है और मेरा आग्रह है कि अनुसंधान की चरम परिणति भी यही होनी चाहिए। तद्विषयक विधान के उपबंध (२) तथ्यों या सिद्धान्तों के नवीन आख्यान के अंतर्गत यद्यपि इसका उल्लेख विशद रूप से किया गया है किन्तु उसकी शब्दावली से निर्विवाद है कि यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है। इस सत्य की सिद्धि के बिना अनुसंधान केवल तथ्य-बोध का साधन होकर रह जाता है सत्य की सिद्धि का माध्यम नहीं।—तब फिर उसकी गणना विद्या के अन्तर्गत न होकर उपविद्या के अन्तर्गत ही करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रवृत्ति और व्यवसाय दोनों से अनुसंधाता होने के नाते आपको अनुसंधान की यह अधोगति स्वीकार्य नहीं होगी।

अनुसंधान के क्षेत्र में आलोचना के इस विरोध का एक इतिहास है। लगभग १९२० ई० के पूर्व जब हिन्दी में अनुसंधान का कार्य विधिवत् आरम्भ हुआ उस समय साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एकाधिपत्य था। शुक्लजी की आलोचना-पद्धति में तत्त्व-चिन्तन के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि वे तथ्यों की चिन्ता अधिक नहीं करते थे। उनके इतिहास तथा भूमिकाओं एवं सैद्धान्तिक निबंधों में तथ्याधार स्खलन दुर्लभ है। वस्तुतः आस्था का अनुसंधान ही उनका ध्येय रहता था—तथ्यों के संकलन और साक्ष्यों के पर्यालोचन के प्रति उनकी रुचि नहीं थी। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि जायसी, सूर और तुलसी के काव्य के जिन मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन वे अपनी संक्षिप्त भूमिकाओं में कर गए हैं परवर्ती अनुसंधाताओं के विशाल ग्रंथ आज तक उनमें कोई आश्चर्यजनक अभिवृद्धि नहीं कर पाए। बिहारी, घनानन्द आदि कवियों के विषय में चिंतन के जो मुख्य तत्त्व वे अपने इतिहास में निबद्ध कर गए हैं परवर्ती अनुसंधाता अब तक तथ्यों के आधार पर या तो उनकी पुष्टि कर रहे हैं या विस्तार। वास्तव में मूल अनु

प्रतिपाद्य का तथ्याधार मात्र है। उत्तरपक्ष में मैं अपने से और आपसे एक प्रश्न करता हूं : क्या शुद्ध आलोचना अनुसंधान नहीं है ? यह प्रश्न एक दूसरे ढंग से भी रखा जा सकता है : क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान नहीं है ? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से भिन्न ही रहता है ? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसन्धान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी में जायसी ग्रन्थावली की भूमिका उत्तम आलोचना का असन्दिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसन्धान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूं। यहां तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है : इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है। शुक्लजी के सैद्धांतिक निबन्धों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास में उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार संदिग्ध हो सकता है ? अर्थात् क्या उनका शोध मूल्य किसी प्रकार कम है ? आप कदाचित् हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेंगे। वे आलोचक हैं शान्तिप्रिय द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक हैं किन्तु आप औचित्यपूर्वक उनके सफल अनुसन्धाता होने में शंका कर सकते हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि शान्तिप्रियजी की जिन रचनाओं का शोध-महत्त्व संदिग्ध है, उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी प्रभाववादी-आलोचना प्रायः निम्न कोटि की आलोचना ही मानी जाती है। शान्तिप्रिय अपने चित्त को समत और दृष्टि को स्थिर कर जहां आधुनिक काव्य—विशेषतः छायावाद-काव्य—के मर्म का उन्मेष करने में सफल हुए हैं, वहां उनकी आलोचनाओं का शोध-मूल्य भी असन्दिग्ध है। छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की विवृत्ति अपने आप में महत्त्वहीन अनुसंधान नहीं है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं आपसे किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूंगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। आप भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूं। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध प्रबन्धों के नाम लेना चाहें। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूंगा कि इस प्रकार के प्रकाट्य प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं। ऐसे प्रबन्ध जिनका मूल्य केवल तत्त्व-शोध पर आधृत है उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के साधन-ग्रंथों के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे। पश्चिम में और वहां के अनुकरण पर इस देश में

भी ऐसे ग्रंथों का महत्त्व बढ़ रहा है। मैं इसका निषेध नहीं करता किन्तु ये सब तो अनुसंधान की सामग्री या साधनमात्र हैं। हिन्दी में ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। उनसे हिन्दी-साहित्य और उसके अनुसंधाता का निश्चय ही बड़ा कल्याण हुआ है किन्तु कृपया उन्हें आदर्श अनुसंधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसंधान के साधन हैं। तत्त्व-दृष्टि से यदि हम विचार करें तो विद्या के सभी भेदों का एक ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है और वह है सत्य की उपलब्धि। सत्य और तथ्य में यह भेद है कि एक केवल बोध का विषय है और दूसरा अनुभूति का। बोध का अर्थ है ऐन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय और अनुभूति का अर्थ है मर्म का साक्षात्कार। मर्म के साक्षात्कार के लिए तथ्य-बोध से आगे बढ़कर तथ्य के द्वारा व्यंजित सत्य की अवगति आवश्यक है। यही आलोचना की परम परिणति है और मेरा आग्रह है कि अनुसंधान की चरम परिणति भी यही होनी चाहिए। तद्विषयक विधान के उपबंध (२) तथ्यों या सिद्धान्तों के नवीन आख्यान के अन्तर्गत यद्यपि इसका उल्लेख विकल्प रूप में किया गया है किन्तु उसकी वस्तुस्थिति से निर्विवाद है कि यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है। इस तत्त्व की सिद्धि के बिना अनुसंधान केवल तथ्य-बोध का साधन होकर रह जाता है, सत्य की सिद्धि का माध्यम नहीं।—तब फिर उसकी गणना विद्या के अंतर्गत न होकर उपविद्या के अंतर्गत ही करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रकृति और व्यवसाय दोनों से अनुसंधाता होने के नाते आपको अनुसंधान की यह अधोगति स्वीकार्य नहीं होगी।

अनुसंधान के क्षेत्र में आलोचना के इस विरोध का एक इतिहास है। लगभग २५-३० वर्ष पूर्व जब हिन्दी में अनुसंधान का कार्य विधिवत् आरम्भ हुआ उस समय साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एकाधिपत्य था। शुक्लजी की आलोचना-पद्धति में तत्त्व-चिन्तन के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि वे तथ्यों को विशेष अधिक नहीं करते थे। उनके इतिहास तथा भूमिकाओं एवं सैद्धान्तिक निबंधों में तथ्याधार स्पष्टतः दुर्बल है। वस्तुतः आत्मा का अनुसंधान ही उनका ध्येय रहता था—तथ्यों के संकलन और सांख्यिकी पद्धति के अवलम्बन के प्रति उनकी रुचि नहीं थी। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि जायसी, सूर और तुलसी के काव्य के जिन मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन वे अपनी संक्षिप्त भूमिकाओं में कर गए हैं परवर्ती अनुसंधाताओं के विशाल शोध-ग्रंथ आज तक उनमें कोई आश्चर्यजनक अभिवृद्धि नहीं कर पाये। बिहारी, घनानन्द आदि कवियों के विषय में चिन्तन के जो सूक्ष्म तत्त्व वे अपने इतिहास में निकालकर रख गये हैं परवर्ती अनुसंधाता अब तक तथ्यों के आधार पर या तो उनकी पुष्टि कर रहे हैं या विस्तार। वास्तव में मूल अनु-

प्रतिपाद्य का तथ्याधार मात्र है। उत्तरपक्ष में मैं अपने से और आपसे एक प्रश्न करता हूँ क्या शुद्ध आलोचना अनुसंधान नहीं है ? यह प्रश्न एक दूसरे ढंग से भी रखा जा सकता है क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान नहीं है ? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से भिन्न ही रहता है ? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसन्धान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी में जायसी ग्रन्थावली की भूमिका उत्तम आलोचना का असन्दिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसन्धान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूँ। यहाँ तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है। शुक्लजी के सैद्धान्तिक निबन्धों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास में उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार संदिग्ध हो सकता है ? अर्थात् क्या उनका शोध मूल्य किसी प्रकार कम है ? *आप कदाचित् हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक* का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेंगे। वे आलोचक हैं शान्तिप्रिय द्विवेदी। वे *निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक हैं* किन्तु आप औचित्यपूर्वक उनके सफल अनुसन्धाता होने में शंका कर सकते हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि शान्तिप्रियजी की जिन रचनाओं का शोध-महत्त्व संदिग्ध है, उनका *आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव-ग्रहण* आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी प्रभाववादी-आलोचना प्रायः निम्न-कोटि की आलोचना ही मानी जाती है। शान्तिप्रिय अपने चित्त को संवत और दृष्टि को स्थिर कर जहाँ आधुनिक *काव्य—विशेषतः छायावाद-काव्य—के मर्म* का उन्मेष करने में सफल हुए हैं वहाँ उनकी आलोचनाओं का शोध-मूल्य भी असन्दिग्ध है। छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की विवृति अपने आप में महत्त्वहीन अनुसंधान नहीं है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं आपसे किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूँगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। आप भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित् कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूँ। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध-प्रबन्धों के नाम लेना चाहें। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूँगा कि इस प्रकार के प्रकाट्य प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं ! ऐसे प्रबन्ध जिनका मूल्य केवल तत्त्व-शोध पर आधृत है उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के सन्दर्भ-ग्रंथों के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे। पश्चिम में और वहाँ के अनुकरण पर इस देश में

इस प्रवृत्ति के मूल में एक आधारभूत सिद्धान्त की उपेक्षा निहित थी। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन की प्रविधि प्रक्रिया उस विषय की अपनी प्रकृति में से ही प्राप्त होनी चाहिए। अध्ययन के नियम और प्रविधि प्रक्रिया निरपेक्ष नहीं हैं, वे सदा विषय पर ही आश्रित रहते हैं। अतः जो विज्ञान विधान की निस्संग दृष्टि और एकान्त वस्तुपरक प्रविधि-प्रक्रिया का यथावत् आरोपण साहित्य के अध्ययन पर करना चाहते हैं वे इस मौलिक सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि कलाकृति तो आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अतः साहित्य की आत्मा का अनुसंधान करने के लिए विज्ञान का उतना उपयोग तो श्रेयस्कर है जितना कि मानवात्मा के उत्कर्ष के लिए नाना प्रकार के भौतिक और सामाजिक विज्ञानों का। पर इसके आगे बढ़ना खतरनाक होगा। इससे साहित्यिक मूल्यों का विपर्यय हो जाने की बड़ी आशंका है।

और, यह आशंका आज हिन्दी अनुसंधान के क्षेत्र में सत्य सिद्ध हो रही है। अनुसंधान आलोचना नहीं है, इस भ्रान्त धारणा से अन्य भ्रान्तियों का जन्म हो रहा है, हिन्दी का अनुसंधाता यह समझने लगा है कि अनुसंधान का कार्य केवल अन्वेषण करना है, सत्साहित्य और असत्साहित्य—यहाँ तक कि साहित्य और असाहित्य की परख से उसका क्या वास्ता? फलतः आज साहित्यिक अनुसंधान के नाम पर ऐसे वाङ्मय का संग्रह हो रहा है जो किसी भी कारण से साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता। मैंने भारतीय हिन्दी परिषद् की निबन्ध गोष्ठी में सभापति-पद से यह प्रश्न उठाया था। उस समय समयाभाव के कारण मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट नहीं कर पाया था और सुना था बाद में कतिपय विद्वानों को मेरे वक्तव्य पर आपत्ति भी थी। मेरा अभिप्राय वास्तव में यह है कि साहित्यिक अनुसंधान साहित्य की परिधि के भीतर ही रहना चाहिए—ऐसी सामग्री को जो साहित्य के अंतर्गत नहीं आती अर्थात् जो अपनी विषय-वस्तु और प्रतिपादन-शैली द्वारा सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने में सर्वथा अक्षम है, साहित्य के अनुसंधान के अंतर्गत संग्राह्य नहीं मानना चाहिए। आज हिन्दी के अनुसन्धाता आदिकाल भक्तिकाल आधुनिक हिन्दी साहित्य के पूर्वार्ध आदि से सम्बद्ध ऐसी प्रचुर सामग्री का ढेर लगाते जा रहे हैं जो साहित्य नहीं है। उदाहरण के लिए रामकाव्य अथवा कृष्णकाव्य के कलेवर को विगत १०-१५ वर्षों में नवीनता के अन्वेषकों ने ऐसे अनेक साम्प्रदायिक ग्रंथों से भरकर फुला दिया है जो किसी भी परिभाषा के अनुसार काव्य नहीं हैं। आप कहेंगे उनका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक मूल्य है—ठीक है, मैं भी इसे मानता हूँ किन्तु अनुसंधान के विषय का शीर्षक तो रामकाव्य या कृष्णकाव्य है, रामभक्ति अथवा कृष्णभक्ति सम्प्रदायों का इतिहास नहीं है। जो स्पष्टतः अकाव्य है उस सामग्री का पृष्ठभूमि आदि का निर्माण करने के

संचेय क्या है—तत्त्व ही न ? इस तत्त्व-शोध की सामान्यतः दो विधियाँ हैं एक दर्शन की दूसरी विज्ञान की। पहली की गति ऋजु और त्वरित है—यह लक्ष्य पर सीधा आक्रमण करती है दूसरी का आधार अधिक दृढ़ और पुष्ट है किन्तु गति मन्थर एवं विलम्बित है। दोनों के अपने गुण-दोष हैं पहली के परिणाम शीघ्रगम्य हैं किन्तु भ्रांतिपूर्ण भी हो सकते हैं दूसरी में भ्रांति की आशंका अपेक्षाकृत बहुत कम है किन्तु उसमें एक बड़ी बाधा यह है कि अनुसंधाता की दृष्टि तथ्य-जाल में उलझ जाती है और तत्त्व की उपेक्षा हो जाती है—तथ्यों के तक्र के स्वाद में तत्त्व के नवनीत का स्वाद भूल जाता है। शुक्लजी के अनुसंधान में पहली पद्धति के गुण-दोष थे। लगभग उन्हीं दिनों हमारे कुछ-एक विद्वान विदेश से शोध-कार्य कर लौटे थे जहाँ वैज्ञानिक पद्धति का साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में भी यथावत् प्रयोग हो रहा था। यहाँ आकर इन्होंने देखा कि हिन्दी अनुसंधान के क्षेत्र में इसका सर्वथा अभाव था उसकी प्रविधि और प्रक्रिया अत्यन्त अपूर्ण और अव्यवस्थित थी। फलतः डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि ने वैज्ञानिक पद्धति को हिन्दी-शोध के क्षेत्र में भी प्रतिफलित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया और एक नवीन शोध प्रणाली का आविर्भाव हुआ जो प्रचलित प्रणाली के साथ संघर्ष में आने लगी। उसी संघर्ष से इस नारे का जन्म हुआ कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। इस पृथक्करण से लाभ और हानि दोनों ही हुए। लाभ तो यह हुआ कि अनुसंधान में तथ्यान्वेषण का महत्त्व बढ़ा—पुष्ट तथ्याधार से विवेचना में प्रामाणिकता और प्रत्यय-शक्ति का विकास हुआ। प्रविधि और प्रक्रिया में वैज्ञानिक व्यवस्थिति एवं पूर्णता आई। दृष्टि को निस्संग निरीक्षण की क्षमता प्राप्त हुई। व्यक्तिगत रुचि-वैचित्र्य का संयमन और उससे प्रभावित अयुक्त निष्कर्षण की प्रवृत्ति का नियंत्रण हुआ। इससे न केवल हिन्दी अनुसंधान का वरन् हिन्दी आलोचना का भी कल्याण हुआ किन्तु हानि भी कम नहीं हुई। अंततः दृष्टि अवरुद्ध होने लगी—तथ्य पर दृष्टि केन्द्रित हो जाने से तत्त्व-दर्शन का महत्त्व कम होने लगा। अनुसंधाता शाखाओं में उलझकर मूल को भूलने लगा। विश्लेषण के स्थान पर गणना का आधिपत्य होने लगा। हृदय के सुन्दर रहस्यों को व्यक्त करने के लिए यान्त्रिक परीक्षा की जाने लगी। कल्पना का नियंत्रण करने के दुराग्रह ने विचार और चिन्तन को भी क्षीण कर दिया। बाह्य रूप-विधा का गौरव इतना बढ़ा कि साहित्य का प्राण-रस सूखने लगा। साहित्य के अंतर्दर्शन को नए आलोचक छायावादी आलोचना कहने लगे। एक अतिवाद से मुक्त होकर हिन्दी अनुसंधान एक दूसरे घातक अतिवाद का शिकार हो गया। वास्तव में यह प्रवृत्ति और भी अधिक चिन्त्य थी और यदि समय पर इसका नियमन न हुआ होता तो हमारे यहाँ विद्या का स्तर निश्चय ही गिर जाता। वास्तव में

काव्यकाव्य शीर्षक के अंतर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और, इसका कारण क्या है? केवल यह गलत नारा कि अनुसंधान आलोचना नहीं है—इसीलिए आलोचक-दृष्टि के अभाव में अनुसंधाता काव्य के नवनीत के साथ उस सप्रेटा को फिर से मिलाकर रख देता है जिसे आचार्य शुक्ल जैसे मर्मी इतिहासकारों ने निकालकर फेंक दिया था। जैसा कि मैंने अन्यत्र निवेदन किया है यह सब कच्चा माल है—इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी) में साफ करके ही इस्तेमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसंधान का अर्थ क्या है? काव्य-सत्य की शोध ही न? जिस अनुसंधान में काव्यत्व अर्थात् काव्य का मूल सत्य ही खो जाए, वह फिर और किस की खोज करना चाहता है?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अध्यापक हूं। कक्षा में प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय में आश्वस्त होने का प्रयत्न करता हूं कि सभी विद्यार्थी मेरे वक्तव्य को समझ गए या नहीं। मेरे वक्तव्य से उनके मन में कुछ भ्रान्तियां तो उत्पन्न नहीं हो गई और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेंगे। आपको विद्यार्थी मानने का दम्भ तो मैं कैसे करूं! किन्तु यह विश्वास लेकर कि आप सब जिज्ञासु भाव से यहां उपस्थित हैं मैं अपनी इस प्रविधि की आवृत्ति करना चाहता हूं और अनुसंधान के विषय में अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक संकेत देकर आज के वक्तव्य को समाप्त करूंगा। मेरी स्थापनाएं संक्षेप में इस प्रकार हैं

१—अनुसंधान और आलोचना निश्चय ही पर्याय नहीं हैं—अनुसंधानकर्मी को यह समझकर अपने काम में प्रवृत्त होना चाहिए। इससे उसकी प्रवृत्ति तथ्यशोध के प्रति जागरूक रहेगी और उसके विवेचन का तथ्याधार पुष्ट हो जाएगा। वह परागत तथ्यों पर निर्भर न रहकर स्वयं भी नवीन सामग्री के संकलन का प्रयत्न करेगा या कम से कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वयं करेगा। प्रत्येक शोधकर्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२—अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अन्तर्गत तथ्यान्वेषण से भी काम चल सकता है। कम से कम पी-एच० डी० की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किन्तु यह अनुसंधान का अथ है इति नहीं है। उसी विषय पर तथ्याख्यान और सम्यक् आलोचना के द्वारा गहनतर अनुसंधान की संभावनाएं बनी रहती हैं। वही शोधार्थी अथवा कोई अन्य उनसे यथाविधि लाभ उठा सकता है और उसे उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए ध्रुवदास के जीवनवृत्त और कविवृत्त पर शोध करने के पश्चात् वही या अन्य कई अनुसंधाता ध्रुवदास की काव्यकला दार्शनिक भूमिका आदि पर सूक्ष्मतर अनुसंधान कर सकते हैं।

३—तथ्यान्वेषण अनुसंधान का आधार मात्र है और प्रारम्भिक रूप होने

लिए उपयोग कर लीजिए किन्तु काव्य शीर्षक के अंतर्गत उसका अनुसंधान करने की कृपा न कीजिए। पाविकाल को ही लीजिए—नाथों और सिद्धों की सैकड़ों रचनाओं का हमारे शोधियों ने साधुओं की गुदड़ियों में से निकालकर ढेर लगा दिया है—आयुर्वेद कृषि समकालीन राजनीति आदि से सम्बद्ध राशि-राशि ग्रंथ हिन्दी साहित्य का सीमा-विस्तार आयुर्वेद और कृषिशास्त्र तक करते जा रहे हैं। *निर्गुण संतों की साम्प्रदायिक बानियाँ* जिनकी रचना शुद्ध साम्प्रदायिक उद्देश्य से हुई थी और कवित्व के नितांत अभाव के कारण किसी भी प्राचीन काव्य-रसिक ने उनका भूलकर भी उल्लेख नहीं किया आज के वैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप हिन्दी-काव्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल में भारतेन्दु और द्विवेदी-युग की सम्पूर्ण पत्रकारिता का हिन्दी साहित्य में अविकल रूप से समावेश किया जा रहा है। उधर लोक-साहित्य का आक्रमण भी जोर से हो रहा है—और लोक-साहित्य तक तो कुशल थी क्योंकि साहित्य शब्द के साहचर्य के कारण लोक-हृदय की करुणा-मधुर अनुभूतियों से उसका कुछ न कुछ सम्पर्क बना रहता था। किन्तु अब तो हमारा अनुसंधान लोकवार्ता तक प्रगति करता जा रहा है—उस वार्ता तक जिसके विषय में संस्कृत काव्य शास्त्र के प्राचीन आचार्य का निर्भ्रान्त निर्णय था

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥

(भामह काव्यालंकार २।८७)

अर्थात् सूर्यास्त हो गया चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षिगण अपने घोंसलों में जा रहे हैं। यह भी क्या कोई काव्य है ? इसे तो वार्ता कहते हैं। अर्थात् वार्ता शब्द हमारे काव्यशास्त्र में अकाव्य का पर्याय माना गया है।

मैं एक भ्रांति का निराकरण करने के लिए दूसरी को जन्म देना नहीं चाहता। इसलिए अपने मंतव्य को थोड़ा और स्पष्ट करना आवश्यक है। मैं एक क्षण के लिए भी इस प्रकार की सामग्री का अवमूल्यन करना नहीं चाहता—सांस्कृतिक सामाजिक ऐतिहासिक अनुसन्धान में इसका अपना विशिष्ट मूल्य है। भारत की मध्यकालीन संस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने में सिद्धों नाथों और संतों की बानियों का अपूर्व महत्त्व है—देश के नवजागरण का इतिहास भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन पत्रकारों का चिरआभारित रहेगा इसी प्रकार लोक-संस्कृति और समाजशास्त्र के लिए लोकवार्ताओं का महत्त्व अक्षुण्ण है। मध्ययुग अथवा आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में भी उपर्युक्त सामग्री अत्यन्त मूल्यवान है, प्रेरक स्रोतों के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है *कवि-मानस के निर्माण के लिए तत्कालीन परिवेश की महत्ता* भी असंदिग्ध है। किन्तु वह तो क्षेत्र ही दूसरा है। आज तो संतकाव्य रामकाव्य

दृष्प्राकाव्य, शीर्षक के अन्तर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और, इसका कारण क्या है ? केवल यह गलत धारणा कि अनुसंधान आलोचना नहीं है—इसीलिए आलोचक-दृष्टि के अभाव में अनुसंधाता काव्य के नवनीत के साथ उस अपेक्षा को फिर से मिलाकर रख देता है जिसे आचार्य शुक्ल जैसे मर्मी इतिहासकारों ने निकालकर फेंक दिया था। जैसा कि मैंने अन्यत्र निवेदन किया है यह सब कच्चा माल है—इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफ़ाइनरी) में साफ़ करके ही इस्तेमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसंधान का लक्ष्य क्या है ? काव्य-सत्य की खोज ही न ? जिस अनुसंधान में काव्यरस अर्थात् काव्य का मूल सत्य ही खो जाए, वह फिर और किस की खोज करना चाहता है ?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अध्यापक हूं। कक्षा में प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय में आश्वस्त होने का प्रयत्न करता हूं कि सभी विद्यार्थी मेरे वक्तव्य को समझ गए या नहीं। मेरे वक्तव्य से उनके मन में कुछ भ्रांतियां तो उत्पन्न नहीं हो गईं और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेंगे। आपको विद्यार्थी मानने का दम्भ तो मैं कैसे करूं ! किन्तु यह विश्वास लेकर कि आप सब जिज्ञासु भाव से यहां उपस्थित हैं मैं अपनी इस प्रविधि की आवृत्ति करना चाहता हूं और अनुसंधान के विषय में अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक सुझाव देकर आज के वक्तव्य को समाप्त करूंगा। मेरी स्थापनाएं संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१—अनुसंधान और आलोचना निश्चय ही पर्याय नहीं है—अनुसंधानकर्मी को यह समझकर अपने कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। इससे उसकी प्रवृत्ति तथ्यशोध के प्रति जागरूक रहेगी और उसके विवेचन का तथ्याधार पुष्ट हो जाएगा। वह परागत तथ्यों पर निर्भर न रहकर स्वयं भी नवीन सामग्री के संकलन का प्रयत्न करेगा या कम से कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वयं करेगा। प्रत्येक शोधकर्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२—अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अन्तर्गत तथ्यान्वेषण से भी काम चल सकता है। कम से कम पी-एच॰ डी॰ की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किन्तु वह अनुसंधान का अन्त है इति नहीं है। उन्हीं विषय पर तथ्याख्यान और सम्यक् आलोचना के द्वारा गहनतर अनुसंधान की संभावनाएं बनी रहती हैं। वही शोधार्थी अथवा कोई अन्य उनसे यथाविधि लाभ उठा सकता है और उसे उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए सूरदास के जीवनवृत्त और कविवृत्त पर शोध करने के पश्चात् वही या अन्य कई अनुसंधाता सूरदास की काव्यकला दार्शनिक भूमिका आदि पर सूक्ष्मतर अनुसंधान कर सकते हैं।

३—तथ्यान्वेषण अनुसंधान का आधार मात्र है और प्रारम्भिक रूप होने

लिए उपयोग कर लीजिए किन्तु काव्य शीर्षक के अन्तर्गत उसका अनुसंधान करने की कृपा न कीजिए। आदिकाल को ही लीजिए—नाथों और सिद्धों की सैकड़ों रचनाओं का हमारे खोजियों ने साधुओं की गुदड़ियों में से निकालकर ढेर लगा दिया है—आयुर्वेद कृषि समकालीन राजनीति आदि से सम्बद्ध राशि-राशि ग्रंथ हिन्दी साहित्य का सीमा-विस्तार आयुर्वेद और कृषिशास्त्र तक करते जा रहे हैं। निर्गुण सन्तों की साम्प्रदायिक बानियाँ जिनकी रचना शुद्ध साम्प्रदायिक उद्देश्य से हुई थी और कवित्व के नितांत अभाव के कारण किसी भी प्राचीन काव्य-रसिक ने उनका भूलकर भी उल्लेख नहीं किया आज के वैज्ञानिक अनुसधान के फलस्वरूप हिन्दी-काव्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल में भारतेन्दु और द्विवेदी-युग की सम्पूर्ण पत्रकारिता का हिन्दी साहित्य में अविकल रूप से समावेश किया जा रहा है। उधर लोक-साहित्य का आक्रमण भी जोर से हो रहा है—और लोक-साहित्य तक तो कुशल थी क्योंकि साहित्य शब्द के साहचर्य के कारण लोक-हृदय की करुणा-मधुर अनुभूतियों से उसका कुछ न कुछ सपर्क बना रहता था। किन्तु अब तो हमारा अनुसंधान लोकवार्ता तक प्रगति करता जा रहा है—उस वार्ता तक जिसके विषय में संस्कृत काव्य शास्त्र के प्राचीन आचार्य का निर्भ्रान्त निर्णय था

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥

(भामह काव्यालंकार २।८७)

अर्थात् सूर्यास्त हो गया चन्द्रमा चमक रहा है पक्षिगण अपने घोंसलों में जा रहे हैं। यह भी क्या कोई काव्य है? इसे तो वार्ता कहते हैं। अर्थात् वार्ता शब्द हमारे काव्यशास्त्र में अकाव्य का पर्याय माना गया है।

मैं एक भ्रांति का निराकरण करने के लिए दूसरी को जन्म देना नहीं चाहता। इसलिए अपने मंतव्य को थोड़ा और स्पष्ट करना आवश्यक है। मैं एक क्षण के लिए भी इस प्रकार की सामग्री का अवमूल्यन करना नहीं चाहता—सांस्कृतिक सामाजिक ऐतिहासिक अनुसंधान में इसका अपना विशिष्ट मूल्य है। भारत की मध्यकालीन संस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने में सिद्धों नाथों और संतों की बानियों का अपूर्व महत्त्व है—देश के नवजागरण का इतिहास भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन पत्रकारों का चिरआभारी रहेगा इसी प्रकार लोक-संस्कृति और समाजशास्त्र के लिए लोकवार्ताओं का महत्त्व असुण्ण है। मध्ययुग अथवा आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में भी उपर्युक्त सामग्री अत्यन्त मूल्यवान है, प्रेरक शक्तों के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है कवि-मानस के निर्माण के लिए तत्कालीन परिवेश की महत्ता भी असंदिग्ध है। किन्तु यह तो होना ही चाहिए है। आज तो ग्रंथकाव्य, ग्रामकाव्य

कृष्णकाव्य शीर्षक के अन्तर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और, इसका कारण क्या है? केवल यह गलत नारा कि अनुसंधान आलोचना नहीं है—इसीलिए आलोचक-दृष्टि के अभाव में अनुसंधाता काव्य के नवनीत के साथ उस सुमेटा को फिर से मिलाकर रख देता है जिसे आचार्य शुक्ल जैसे मर्मी इतिहासकारों ने निकालकर फेंक दिया था। जैसा कि मैंने अन्यत्र निवेदन किया है, यह सब कच्चा माल है—इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी) में साफ करके ही इस्तेमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसंधान का लक्ष्य क्या है? काव्य-सत्य की खोज ही न? जिस अनुसंधान में काव्यत्व अर्थात् काव्य का मूल तत्त्व ही खो जाए, वह फिर और किस की खोज करना चाहता है?

मैं स्वभाव और वृत्ति से अध्यापक हूं। कक्षा में प्रत्येक व्याख्यान के बाद मैं इस विषय में आश्वस्त होने का प्रयत्न करता हूं कि सभी विद्यार्थी मेरे वक्तव्य को समझ गए या नहीं। मेरे वक्तव्य से उनके मन में कुछ भ्रांतियां तो उत्पन्न नहीं हो गईं और मेरे द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विद्यार्थी किस प्रकार से उचित उपयोग कर सकेंगे। आपको विद्यार्थी मानने का दम्भ तो मैं कैसे करूं! किन्तु यह विश्वास लेकर कि आप सब जिज्ञासु भाव से यहां उपस्थित हैं मैं अपनी इस प्रविधि की आवृत्ति करना चाहता हूं और अनुसंधान के विषय में अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध कुछ व्यावहारिक संकेत देकर आज के वक्तव्य को समाप्त करूंगा। मेरी स्थापनाएं संक्षेप में इस प्रकार हैं

१—अनुसंधान और आलोचना निश्चय ही पर्याय नहीं है—अनुसंधानकर्मी को यह समझकर अपने कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। इससे उसकी प्रवृत्ति तथ्यशोध के प्रति जागरूक रहेगी और उसके विवेचन का तथ्याधार पुष्ट हो जाएगा। वह परागत तथ्यों पर निर्भर न रहकर स्वयं भी नवीन सामग्री के संकलन का प्रयत्न करेगा या कम से कम प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता की परीक्षा स्वयं करेगा। प्रत्येक शोधकर्ता को इस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए।

२—अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अन्तर्गत तथ्यान्वेषण से भी काम चल सकता है। कम से कम पी-एच॰ डी॰ की उपाधि के लिए उतना पर्याप्त हो सकता है। किन्तु यह अनुसंधान का पथ है इति नहीं है। उस [illegible] तथ्याख्यान और सम्यक् आलोचना के द्वारा महत्तर अनुसंधान की [illegible] बनी रहती है। वही शोधार्थी अथवा कोई [illegible] सकता है और उसे उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए [illegible] और व्यक्तित्व पर शोध करने के पश्चात् [illegible] की काव्यात्मा, दार्शनिक भूमिका आदि [illegible] है।

३—तथ्यान्वेषण अनुसंधान का [illegible] है [illegible]

के नाते अपेक्षाकृत निम्नतर रूप भी है। डी० लिट्० के लिए इस प्रकार के शोधकार्य की संस्तुति करने में मुझे अत्यन्त संकोच होगा जब तक कि उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक न हो।

४—आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना मैं उत्कृष्ट अनुसन्धाता की कल्पना नहीं कर सकता। शोध-नियमों के अनुसार भी परीक्षक को यह प्रमाणित करना पड़ता है कि अनुसंधाता ने अपने प्रबन्ध में आलोचन-क्षमता का परिचय दिया है। सत्य-शोध के तीन सोपान हैं—तथ्य-संग्रह, विचार और प्रतीति। उपलब्ध तथ्य को विचार में परिणत किए बिना ज्ञान की वृद्धि संभव नहीं है और विचार को प्रतीति में परिणत किए बिना सत्य की सिद्धि सम्भव नहीं। तथ्य को विचार-रूप देने के लिए मनन की आवश्यकता पड़ती है और विचार को प्रतीति में परिणत करने के लिए दर्शन अनिवार्य है—और ये दोनों ही साहित्यालोचन के अंतरंग तत्त्व हैं। अतः उत्कृष्ट साहित्यिक आलोचना साहित्यिक अनुसन्धान का उत्कृष्ट रूप है—शोधार्थी को इस महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय में निर्भ्रान्त रहना चाहिए। इसलिए मेरे तरुण मित्रो ! आप शक्ति और साधन के अनुसार अपने गन्तव्य का निर्धारण कर लें। आपकी दृष्टि यदि व्यावसायिक है तो सामान्य अज्ञात या अर्धज्ञात कवि-लेखक के वरदान से ही तथ्यान्वेषण के द्वारा उपाधि मिल जाएगी, यदि अपनी प्रतिभा के प्रति आप जागरूक हैं और आपकी मनस्विता निम्न कोटि की सफलता से संतुष्ट नहीं हो सकती तो आपको अपनी आलोचन-शक्ति को मांजना और मांजना होगा जिससे कि आप तथ्यों की व्यंजना को समझ और समझा सकें और इससे भी आगे, बढ़कर यदि आप अनुसंधान के क्षेत्र में अमर उपलब्धि करना चाहते हैं तो निरंतर साधना के द्वारा साहित्य-दर्शन की क्षमता का विकास करना होगा।

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है। उत्तर-पश्चिम में पंजाबी हिन्दी और उर्दू पूर्व में उड़िया बँगला और असमिया मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल तेलुगु कन्नड़ और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएं हैं जिनका साहित्यिक और भाषा-वैज्ञानिक महत्व कम नहीं है—जैसे कश्मीरी डोगरी सिंधी कोंकणी तुरू आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का अपना साहित्य है जो प्राचीनता वैविध्य गुण और परिमाण सभी की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाए तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत संस्कृत पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है। ज्ञान का अपार भांडार—हिन्द महासागर से भी गहरा भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की कल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिंधी इधर हिंदी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएं कितनी मिली हुई हैं। किन्तु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है—इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओतप्रोत है किन्तु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति सम्भव है? दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियाँ हैं परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है? यही बात बँगला असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बँगला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिल का

संगम-साहित्य—तेलुगु के प्रबंधी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य मलयालम के संदेश-काव्य एवं कीर-गीत (किलिप्पाट्टु) तथा मणिप्रवालम् शैली मराठी के पवाड़े गुजराती के आख्यान और फागु, बंगला का मंगल-काव्य असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगीत उर्दू की गजल और हिन्दी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों विचारधाराओं और जीवन-प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज सम्भव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहां इस एकता के आधार-तत्त्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

इसलिए म तमिल और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म-काल प्रायः समान ही है। तेलुगु-साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं शती। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है 'कविराजमार्ग' जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश में नरेश नृपतुंग (८१४-८७७ ई०) और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है 'रामचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्याएं हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि ग्रंथ सन् ११८५ ई० में रचित शालिभद्र भरतेश्वर का 'बाहुबलिरास' है और मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है। बंगला के चर्या-गीतों की रचना शायद १०वीं और १२वीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी असमिया-साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अन्त के हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएं 'प्रह्लादचरित' तथा 'हरगौरी-संवाद' उड़िया भाषा में भी तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं। उधर चौदहवीं शती में तो उड़ीसा के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएं ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है—तमिल जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल भाषी उसका उद्भव और भी पहले मानते हैं) और उर्दू जिसका वास्तविक आरम्भ सत्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है। पूर्वमध्यकाल की समाप्ति मुगल-वैभव के अन्त अर्थात् १७वीं शती के मध्य में तथा उत्तरमध्यकाल की समाप्ति अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है—और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है—सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस समानान्तर विकास-क्रम का आधार अत्यन्त स्पष्ट है—और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुगल शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व पश्चिम में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा—मुगलों की सत्ता क्षीण हो जाने के बाद भी यह सम्पर्क टूटा नहीं। मुगल शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे।—राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट् तो नहीं हुआ किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे—शासक भिन्न होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन-प्रणाली प्रायः एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन-प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अंग्रेजों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरम्भ में उत्तर में तिब्बत आदि तक दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में जिनमें नाथ सिद्ध और शैव सभी थे जीवन के विचार और भाव पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति एवं सिद्धांत प्रतिपादन दोनों के लिए कविकर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्रायः विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी संत-सम्प्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफी मत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। मत-सम्प्रदाय वेदांत दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण भक्ति की साधना

तथा प्रचार करते थे—सूफी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफी संतों का यद्यपि उत्तर पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था फिर भी दक्षिण के बहमनी बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी संत हुए। इसके पश्चात् वैष्णव आंदोलन का आरम्भ हुआ जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुंजरित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरन्तर बढ़ रहा था—ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्व—जैसे वैभव-विलास अलंकरण-सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और धार्मिक पराभव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें शेष रह गयी। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाए—और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों ने इस भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस सम्पर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है! विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ सम्पर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण युग का उदय राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष चौथे दशक में साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव इलियट आदि के प्रभाव से नये जीवन की बौद्धिक कुण्ठाओं और स्वप्नों को वाक्-रूप देने के नये प्रयोग और अन्त में स्वतन्त्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार—यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूप-रेखा है जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिए—भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण महाभारत, पुराण भागवत संस्कृत का अभिजात साहित्य—अर्थात् कालिदास,

भवभूति, बाण, श्रीहर्ष अमरुक, और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ पालि प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। शास्त्र के अंतर्गत उपनिषद् षड्दर्शन स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रन्थ—नाट्यशास्त्र ध्वन्यालोक काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण रसगंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपभोग भी सभी ने निरन्तर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं और प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है।—इस प्रकार समान राजनीतिक सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्म-जात समानता एक सहज घटना है।

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तुगत अथवा रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है। किन्तु काव्यशैलियों और काव्यरूपों की समानता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्रायः सभी साहित्यों में संस्कृत से प्राप्त काव्य-शैलियाँ—महाकाव्य खण्डकाव्य मुक्तक कथा आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अपभ्रंश परम्परा की भी अनेक शैलियाँ जैसे चरितकाव्य प्रेमगाथा-शैली रास पद-शैली आदि प्रायः समान रूप से मिलती हैं। अनेक वर्णिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक देशी छन्द—दोहा चौपाई आदि—भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छन्द हैं। इधर आधुनिक युग में पश्चिम के अनेक काव्य-रूपों और छन्दों का जैसे प्रगीत काव्य और उसके अनेक भेदों सम्बोध-गीत शोक-गीत चतुर्दशपदी का और मुक्त-छन्द गद्य-गीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएं दो विभिन्न परिवारों—आर्य और द्रविड़ परिवारों की भाषाएं हैं फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत पालि प्राकृतों और अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएं सहज ही लक्षित हो जाती हैं। भारतीय भाषाएं अपनी व्यंजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियों के विकास के लिए, चिन्मय शब्दों और पर्यायों के लिए तथा नवीन शब्द-निर्माण के लिए निरंतर संस्कृत के भाण्डार का उपयोग करती रही हैं—और आज भी कर रही हैं। इधर वर्तमान युग में अंग्रेजी का प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है। अंग्रेजी की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शक्ति बहुत विकसित है पिछले ५० वर्षों में भारत की सभी भाषाएं उसकी नवीन प्रयोग भंगिमाओं मुहावरों उपचार-वक्रताओं को यथेष्ट ग्रहण कर रही हैं। उधर गद्य पर तो अंग्रेजी का प्रभाव और भी

अधिक है—हमारी वाक्य रचना प्रायः अंग्रेजी पर ही आश्रित है। अतः इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम भाषा में एक गहरी आंतरिक समानता मिलती है जो समान विषय-वस्तु के कारण और भी दृढ़ हो जाती है।

इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि 'भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है।' देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा है। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक अनुसंधान अभी होना है। इसके लिए अत्यन्त निस्संग भाव से सत्य-शोध पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्त्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसंधान की प्रणाली में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए—वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यन्त अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बँगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की खोज में असफल रहेगा—उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धारा में अवगाहन करना होगा—गुजराती उड़िया असमिया तमिल तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टतः अनेक छिद्र रह जाएंगे। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएं सांयोगिक-सी प्रतीत होती हैं वे वास्तव में ऐसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के जिस विशाल गीत-साहित्य की परम्परा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त बंगाल की भाषाओं में और बँगला में सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी काव्य में घटने वाली आकस्मिक या ऐकान्तिक घटना नहीं थी गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानों में पन्द्रहवीं शती के मलयालम कवि ने कृष्णगाथा में असमिया कवि माधव देव ने अपने बड़गीतों में अत्यन्त मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनायास ही सुलझा कर रख देता है। प्रेमाख्यान काव्यों की अगणित कथानक-रूढ़ियां विविध भाषाओं के प्रेमाख्यान-काव्य का अध्ययन किए बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। सूफी काव्य के मर्म को समझने में फारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओं—कश्मीरी सिंधी पंजाबी और उर्दू में विद्यमान तत्सम्बन्धी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के रामचरित-मानस में राम के स्वरूप की परिकल्पना को हृदयंगत किए बिना अनेक भारतीय भाषाओं

के रामकाव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी के अष्टछाप कवियों का प्रभाव बंगाल और गुजरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था—वहाँ के कृष्णकाव्य के सम्यक् विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस अंतःसाहित्यिक शोध प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियाँ अनायास ही मिल जाएंगी, अगणित जिज्ञासाओं का सहज समाधान हो जाएगा और उधर भारतीय चिंताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखण्ड एकता का उद्घाटन हो सकेगा।

किन्तु यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी। सबसे पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधाताओं का ज्ञान प्रायः अपनी भाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी और संस्कृत तक ही सीमित है—प्रादेशिक भाषाओं से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति में डर है कि प्रस्तावित योजना कहीं पुण्य इच्छा मात्र होकर न रह जाए, पर यह बाधा अजेय नहीं है व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नहीं है। कुछ भाषावर्ग तो ऐसे हैं जिनमें अत्यल्प अभ्यास से काम चल सकता है उनमें तो रूपान्तर—यहाँ तक कि लिप्यन्तर भी आवश्यक नहीं है। जैसे बँगला असमिया और उड़िया में या हिन्दी और मराठी में या तेलुगु और कन्नड़ में कुछ शब्दों अथवा शब्द-रूपों के अर्थ आदि देकर काम चल सकता है। हिन्दी उर्दू और पंजाबी में लिप्यन्तर और कठिन शब्दार्थ से समस्या सुलझ सकती है यही हिन्दी और गुजराती तथा तमिल और मलयालम के विषय में प्रायः सत्य है। अन्य भाषाओं के लिए अनुवाद का आश्रय लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास परिचय तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान अंतःसाहित्यिक गोष्ठियाँ आदि की सम्यक् व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा हो सकती है। आज देश में इस प्रकार की चेतना प्रबुद्ध हो गई है और कतिपय संस्थाएं इस दिशा में अग्रसर हैं। किन्तु अभी तक यह अनुष्ठान अपनी आरम्भिक अवस्था में ही है—इसके लिए जैसे व्यापक एवं संगठित प्रयत्न की अपेक्षा है वैसा आयोजन अभी हो नहीं रहा। फिर भी 'भारतीय साहित्य' की चेतना की प्रबुद्धि ही अपने आप में शुभ लक्षण है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे दृढ़ एवं स्थायी आधार है साहित्य। जिस प्रकार अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरन्तर अपनी अखण्डता में उभरता आ रहा है, इसी प्रकार एक समन्वित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो माध्यम का भेद होते हुए भी साहित्य का व्यक्त रूप भी भिन्न नहीं हो सकता।

भारतीय साहित्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव

रवीन्द्र-जयन्ती का आयोजन जिस उल्लास और उत्साह के साथ जिस व्यापक रूप में पूरे राजकीय वैभव के साथ हो रहा है वह हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में अभूतपूर्व घटना है। एक ओर हमारे लिए जहां यह गौरव का विषय है कि एक कवि-कलाकार को इस प्रकार का राजकीय एवं देशव्यापी सम्मान दिया जा रहा है दूसरी ओर हमें इस प्रकार के राजनीतिक आयोजनों के असाहित्यिक प्रभावों के प्रति भी सतर्क होने की आवश्यकता है। इस प्रकार के राजनीतिक कोलाहल से कई अनिष्ट हो सकते हैं एक तो यह कि स्वयं रवीन्द्र-साहित्य के अभ्यन्तर रूप की उपेक्षा हो जाए और 'वह विश्व मानव थे' 'अन्तर्राष्ट्रीय पुरुष थे' 'महान शिक्षाविद् थे' सिद्ध दार्शनिक थे 'अद्वितीय जन सेवक थे'—ऐसे या इस प्रकार के अन्य नारों के बीच उनका कलाकार ही खो जाए; और दूसरा यह कि राजनीतिक रंग में रंगे हुए इस प्रचार और प्रसार के फलस्वरूप रवीन्द्र साहित्य का इतना अधिक अतिमूल्यन किया जाए कि देश की अन्य साहित्यिक विभूतियां रवीन्द्रनाथ की उपजीवी या उपग्रह बनकर रह जाएं। एक वाक्य में इस प्रकार के अतिरंजित प्रयत्नों से साहित्य के क्षेत्र में भी राजनीतिक मूल्यों का प्रवेश होने की आशंका हो जाती है। अतः भारतीय साहित्य पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का मूल्यांकन राजनीतिक प्रचार भावना से मुक्त होकर, उचित साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में करना चाहिए और यह समझकर आगे बढ़ना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ ने बीसवीं शती के प्रथम चरण में जिस आलोक का वितरण किया वह उन्हें प्राचीन भारत की महान् परम्परा से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ—वह आलोक भारत के अन्य साहित्यकारों को भी प्राप्त था किन्तु स्वदेश-विदेश की काव्य-परम्परा के साथ रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का अतिरिक्त वरदान भी मिला।

अंग्रेजी आलोचना में कुछ कवियों के लिए एक प्रशस्ति का प्रयोग किया जाता है—पोइट्स पोइट कवियों का कवि। इसका संस्कृत पर्याय बनता है

'कवीनां कविः' किन्तु संस्कृत आलोचना में इस अर्थ में 'कविकुलगुरु' का प्रयोग हुआ है, 'कवीनां कविः' का नहीं। 'कविकुलगुरु' या 'कवियों के कवि' पद की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—एक तो वह कवि जो परवर्ती कवि-परम्परा को काव्य-वस्तु प्रदान करता है या काव्य-वस्तु के नव निर्माण की प्रेरणा देता है, दूसरा वह कवि जो काव्य-सामग्री—विशेषतः काव्य-बिम्ब प्रदान करता है अथवा काव्य-बिम्बों के नवनिर्माण की प्रेरणा देता है। वाल्मीकि और व्यास पहली कोटि के कवि हैं, कालिदास दूसरी के। किन्तु जहाँ तक मुझे स्मरण है संस्कृत काव्य-परम्परा ने कालिदास को ही कविकुलगुरु की उपाधि से भूषित किया है—'भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः'—स्वयं कालिदास को काव्य-वस्तु का दान करनेवाले वाल्मीकि और व्यास का प्रथम यशोगान करने पर भी उन्हें 'कवीनां कविः' का पर्याय-वाचक 'कविकुलगुरु' विशेषण नहीं दिया। इसका अभिप्राय यह है कि 'कविकुलगुरु' या 'कवीनां कविः' का प्रयोग प्रायः दूसरे अर्थ में अर्थात् काव्य-सामग्री या काव्य-बिम्ब प्रदान करनेवाले ऐसे कवि के लिए ही किया गया है जो अतिशय भाव-वैभव और कल्पना-विलास से मण्डित हो—जिसके प्रचुर भण्डार से अन्य कवि अपने काव्य कोष को परिपूर्ण करते हों। इस अर्थ में भारतीय साहित्य में कालिदास के उपरान्त 'कवीनां कविः' विशेषण के अधिकारी केवल रवीन्द्रनाथ ही हैं यद्यपि देश की अनेक भाषाओं में ऐसे अनेक महाकवि हुए हैं किन्तु रवीन्द्रनाथ को सम प्रतिम मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

रवीन्द्रनाथ मूलतः कवि थे। जीवन के जिस सत्य का उनके कवि ने कल्पना और अनुभूति द्वारा साक्षात्कार किया उसीको वे अनेक माध्यम प्रकारों से व्यक्त करते रहे। विश्व के विकीर्ण वैभव में आत्मा के स्पन्दन को भाव-प्रेरित कल्पना और फिर कल्पना-समृद्ध अनुभूति से प्राप्त कर उन्होंने अनेकता में एकता के जिस सत्य को स्वानुभूत किया वही दर्शन के क्षेत्र में सर्वात्मवाद संस्कृति के धरातल पर विश्वमानवतावाद और राजनीति के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रवाद का रूप धारण कर उनके सम्पूर्ण वाङ्मय में पुष्पित होता रहा। इस प्रकार की अनुभूति स्पष्टतः एक प्रकार की रहस्यानुभूति है जो एक ओर विचार और विवेक की बौद्धिक सीमाओं को और दूसरी ओर ऐन्द्रिय जगत के भौतिक बन्धनों को पारकर चेतना के गहन गह्वर में जन्म लेती है—आप उसे आत्मा या चिति कहें या केवल चेतना मात्र। रवीन्द्रनाथ की काव्यानुभूति का यही मूल धरातल था। इसलिए उनकी काव्यानुभूति मूलतः रहस्यानुभूति है और उनकी काव्य-शैली का निर्माण स्वभावतः रहस्याद्भुत तत्त्वों से हुआ है। भारतीय साहित्य पर उनके प्रभाव का आरम्भ गीतांजलि की पुरस्कृति के पश्चात् ही माना जा सकता है। भारतीय काव्य प्रतिभा को यह सार्वभौम स्वीकृति अपने

देश के साहित्यिक इतिहास की अभूतपूर्व घटना थी जिसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था।

हिन्दी साहित्य में इस समय आचरण-सुधार के नैतिक भावों से मुखरित द्विवेदी-युग चल रहा था जिसकी दृष्टि सर्वथा बहिर्मुखी थी और जिसकी अभिव्यक्ति का रूप इतिवृत्तात्मक था। रीति-काव्य की परिमित रस-भूमि को अनैतिक और रोग-ग्रस्त मानकर हिन्दी का कवि त्याग चुका था। किन्तु उसके स्थान पर नवीन रस-भूमि का अनुसंधान वह कर नहीं पाया था। अन्तर्मुख जीवन के दुष्परिणामों से पीड़ित भारतीय चेतना जीवन और जगत् के अवसरमय प्रसार के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रही थी। सामाजिक जीवन के कल्याण की ओर उन्मुख अनेक आंदोलन साहित्य में भी प्रतिध्वनित हो रहे थे किन्तु ऐसा लगता था जैसे कि वे विवेक के स्तर से ही टकराकर लौट जाते हों। बँगला-साहित्य में भी बहुत-कुछ ऐसी परिस्थिति थी जिसके विरुद्ध रवीन्द्रनाथ की काव्य-चेतना ने विद्रोह किया था। हिन्दी कविता में 'गीतांजलि' की प्रसिद्धि के आसपास ही इस प्रकार की प्रतिक्रिया होने लगी थी। प्रसाद की प्रारम्भिक रचनाओं में सामयिक काव्यादर्शों से कुंठित कवि चेतना की यह व्यथा व्यक्त हो रही थी। भावना और विवेक का यह संघर्ष चेतना के विकास का चिरंतन सत्य है न यह आकस्मिक घटना है और न किसी व्यक्ति-विशेष की सृष्टि। भारतीय चेतना स्थूल और सूक्ष्म बहिरंग और अंतरंग की क्रिया-प्रतिक्रिया में से गुज़रती हुई ऐसी परिस्थिति में पहुँच गई थी जहाँ बहिर्मुख नैतिकता और संयत साधना के विरुद्ध अन्तर्मुख भावना तथा रहस्य कल्पना की प्रतिष्ठा अवश्यम्भावी थी। रवीन्द्रनाथ युगात्मा की इस पुकार के अपने आप में सबसे प्रबल प्रतीक थे और दूसरों के लिए प्रेरणा-स्रोत भी बन गए थे। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दी कविता में द्विवेदी काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया-रूप छायावाद का जन्म होना अवश्यम्भावी था और उसके लिए न केवल भूमि तैयार हो गई थी वरन् अंकुर भी फूटने लग गए थे—रवीन्द्रनाथ के बढ़ते हुए प्रकाश ने उनका पोषण किया और छायावाद का विकास बड़े वेग से हुआ इसमें सन्देह नहीं। छायावाद की रोमानी प्रवृत्तियों की समृद्धि का श्रेय निश्चय ही रवीन्द्रनाथ को है और पन्त निराला महादेवी जैसे समर्थ कवियों ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उनसे प्रेरणा तथा बल प्राप्त किया। पंत की प्रारम्भिक कविताओं में रवीन्द्र-काव्य की अनुगूंज मिलती है जिसको लेकर निराला ने एक बड़े लम्बे लेख में यह सिद्ध करने का निरर्थक प्रयास किया था कि पंत न केवल मूल प्रेरणा के लिए वरन् अनेक भाव-छायाओं और बिम्ब-योजनाओं के लिए रवीन्द्रनाथ के ऋणी हैं। वास्तव में उस समय छायावाद को रवीन्द्र-काव्य की नकल मानने का कुछ ऐसा प्रवाद चल पड़ा था कि हिन्दी के आलोचक बिना

किसी आधार के छायावादी कवियों पर रवीन्द्रनाथ का अनुकरण करने का आरोप लगा रहे थे। पंत की अपेक्षा निराला का रवीन्द्र-काव्य से अधिक घनिष्ठ और प्रत्यक्ष परिचय था। बंगला एक प्रकार से उनके लिए मातृभाषा थी और रवीन्द्र-काव्य की अर्थ-छवियां तथा प्रयोग-भंगिमाएं उनकी कवि चेतना में सहज रूप में रम गई थी। किन्तु निराला में आरंभ से ही बाह्य प्रभाव के प्रतिरोध का इतना उत्कट आग्रह था कि उनके काव्य में रवीन्द्रनाथ का प्रत्यक्ष प्रभाव ढूंढ़ निकालना कठिन है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि निराला की कवि चेतना का प्रारम्भिक विकास जिस साहित्यिक वाता वरण में हुआ उसके निर्माण में रवीन्द्रनाथ का प्रमुख योगदान था। महादेवी ने भी निश्चय ही यह प्रेरक प्रभाव ग्रहण किया किन्तु उनकी प्रगीत-कला का विकास बहुत कुछ स्वतंत्र रूप में हो हुआ। वास्तव में छायावाद पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव का उचित मूल्यांकन आरम्भ में इसलिए नहीं हो सका कि उस समय छायावाद के स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार की भ्रांतियां फैली हुई थीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसे एक ओर जहां रहस्यवाद का ही प्रतिरूप माना वहां दूसरी ओर उसे अभिव्यंजना का प्रकार मात्र घोषित किया। शुक्ल जी स्वभाव और सिद्धान्त दोनों से रहस्यवाद के विरुद्ध थे। दर्शन के क्षेत्र में वे सम्यक्त्व के व्यक्त प्रसार पर मुग्ध थे भावना के क्षेत्र में लोक-मंगलकारी नैतिक अनुभूतियों को और कला के क्षेत्र में वह मूर्त सौन्दर्य-बोध को ही प्राथमिक महत्त्व देते थे। छायावाद में एक प्रकार से इन तीनों का ही निषेध था—इस-लिए वह आचार्य का अनुग्रह भाजन न बन सका। छायावाद का विरोध करते करते वह उसके प्रेरक स्रोत रवीन्द्र-काव्य तक पहुँचे। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी आधुनिक कवि की रहस्यानुभूति। जब मध्य युग के कबीर आदि निर्गुण साधकों में भी उसे यथावत् स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति होती थी तो आधुनिक विज्ञान-युग के कवि की रहस्यानुभूति को स्वीकार करना तो और भी कठिन था। इसलिए हिन्दी के उदीयमान कवियों को तो उन्होंने अनुकर्तामात्र कहकर उपेक्षा कर ही दी, साथ ही विश्वविख्यात रवीन्द्रनाथ की रहस्यानुभूति पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया। रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा से हतप्रभ होकर उन्होंने अपनी धारणाओं में संशोधन करना स्वीकार न किया और उन्हें रहस्य वादी की अपेक्षा महान आलंकारिक मानना ही अधिक उपयुक्त समझा। अर्थात् रविबाबू की रहस्याभिव्यक्तियों को उन्होंने अनुभूति-प्रेरित न मानकर अभि व्यंजना की विभूति ही अधिक माना। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने न केवल छायावाद का ही विरोध किया वरन् हिन्दी कविता पर रवीन्द्रनाथ के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का भी प्रयत्न किया। बाद में चलकर जब छायावाद का

का स्वाभाविक विकास है—तो यह स्वीकार करने में देर न लगी कि काव्य की प्रत्येक प्रवृत्ति की भांति यद्यपि छायावाद ने भी उधर अंग्रेज़ी की रोमानी कविता और इधर रवीन्द्रनाथ की कविता से प्रारम्भिक प्रेरणाएं प्राप्त की थी—फिर भी वह उनकी छायामात्र नहीं है। तथ्य वास्तव में यह है कि पहले रवीन्द्रनाथ ने रोमानी कवियों से प्रेरणा ग्रहण की और फिर हिन्दी कवियों ने बहुत कुछ प्रत्यक्ष रूप में और अंशतः रवीन्द्रनाथ के माध्यम से भी अपने विकास के पहले चरण में उनका प्रभाव ग्रहण किया। छायावाद का जन्म होने तक रवीन्द्रनाथ विदेशी काव्य के उस प्रभाव को आत्मसात् कर चुके थे। उनकी महान् प्रतिभा शैले और कीट्स की किशोर कल्पनाओं को तब तक विराट् भारतीय आधार फलक प्रदान कर चुकी थी और अंग्रेज़ी की लाक्षणिक भंगिमाओं को संस्कृत के ऐश्वर्य से मंडित कर चुकी थी इसलिए हिन्दी-कवियों का कार्य अपेक्षाकृत सुकर हो गया।

किन्तु यह सब होते हुए भी छायावाद के अग्रणी कवि प्रसाद इन दोनों प्रभावों से मुक्त रहे—न उन्होंने अंग्रेज़ी के रोमानी कवियों का ऋण स्वीकार किया और न रवीन्द्रनाथ का ही। रवीन्द्रनाथ ने जहां पाश्चात्य रोमानी प्रभाव को कालिदास की रमणीय कल्पनाओं में ढालकर उन्हें भारतीय काव्य-चेतना का अंग बना लिया था वहां प्रसाद की प्रेरणा का मूल स्रोत शुद्ध भारतीय ही रहा। अपने युग के रोमानी वातावरण से प्रेरित होकर वह पश्चिमी साहित्य की ओर नहीं गए वरन् भारत के प्राचीन साहित्य में बिखरे हुए रम्याद्भुत तत्त्वों का संधान करने लगे जिसकी चरम परिणति हमें 'कामायनी' में मिलती है। इसलिए प्रसाद की काव्य-चेतना रवीन्द्रनाथ की काव्य-चेतना की अपेक्षा अधिक भारतीय और उसी सीमा तक अधिक मौलिक है। हिन्दी के सम्यक् प्रचार और प्रसार के उपरान्त जब भारतीय भाषाओं में 'कामायनी' के महत्त्व की उचित प्रतिष्ठा हो सकेगी उस समय मुझे विश्वास है कि मेरी स्थापना की सत्यता अनायास ही सिद्ध हो जाएगी।

हिन्दी की भांति अन्य भाषाओं के काव्य पर भी रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। प्रायः सभी भाषाओं में 'गीतांजलि' का अनुवाद हुआ कुछ भाषाओं में सीधे बंगला से और कुछ में अंग्रेज़ी से। कुछ में केवल गद्यानुवाद ही हुए किन्तु कतिपय भाषाओं में छन्द का माध्यम भी ग्रहण किया गया जैसे मराठी में तेलुगु में हिन्दी में। शीघ्र ही भारतीय कवियों ने यह अनुभव किया कि 'गीतांजलि' रवीन्द्रनाथ की सर्वश्रेष्ठ कृति नहीं है और उन्होंने कवि की अन्य समृद्ध रचनाओं का मूल अथवा अनुवाद में अध्ययन किया जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय काव्य में एक नवीन रहस्योन्मुख सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष हुआ। तेलुगु में रायप्रोलु सुब्बाराव और अब्बूरी रामकृष्ण राव की कविताएं इस नव

प्रभाव से मंडित है। मलयालम में शंकर कुरुप, आसन उल्लूर और कन्नड़ में कुवेम्पु, बेन्द्रे तथा गोकाक इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं। बेन्द्रे में रवीन्द्रनाथ का चरम सौन्दर्य-संगीत और कुवेम्पु तथा गोकाक में बंगला कवि की अतीन्द्रिय रहस्योन्मुख सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष है। मराठी में 'गूढ़गुंजन' नाम से जिस रम्य रहस्य प्रवृत्ति का जन्म हुआ उसका प्रेरणा-स्रोत रवीन्द्र-काव्य ही था। केशवसुत तांबे थी, और उधर विदर्भ कवि अनिल गुणवन्त हनुमन्त देशपांडे वामन नारायण देशपांडे आदि की रमणीय कामकी भाव-वस्तु तथा रम्याद्भुत बिम्ब-योजनाओं में भी यह प्रभाव लक्षित होता है। गुजराती में भी इस वर्ग के कवि हैं स्नेहरश्मि प्रह्लाद परीख आदि। कान्त ने गीतांजलि की निर्गुण भावना से प्रेरित होकर उसका गुजराती में अनुवाद किया। उत्तर पश्चिम की भाषाओं में पंजाबी के भाई वीरसिंह मूलतः सिक्ख गुरुओं की निर्गुण भक्ति से प्रेरित होने पर भी रवीन्द्रनाथ के सौंदर्य-दर्शन से प्रभावित हुए। उर्दू कविता में यद्यपि सूफी-काव्य परम्परा के प्रभाव के कारण बंगला कवि की मधुर रहस्य भावना एकदम नई नहीं थी फिर भी बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा और नियाज फतेहपुरी ने सन् १९१४ में गीतांजलि का अत्यन्त रसमय गद्य में अनुवाद प्रस्तुत किया। उर्दू साहित्य में 'अदबे लतीफ' नाम से एक नई विधा का जन्म हुआ जो हिन्दी गद्य-काव्य का पर्याय था। इसको प्रेरणा मिली गीतांजलि के अंग्रेजी गद्यानुवाद से। सन् १९१५ में शांतिनिकेतन के मौलवी जियाउद्दीन ने 'कलामे टैगोर' शीर्षक से मूल बंगला से अनूदित कवि की १२० कविताओं का संकलन प्रस्तुत किया। अप्रत्यक्ष प्रभाव या प्रेरणा की दृष्टि से भी उर्दू काव्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़ा किन्तु वह प्रायः सामान्य कवियों तक ही सीमित रहा। पूर्वी भाषाओं में उड़िया के 'सबुज वर्ग' के कवि और असमिया के हितेश्वर बरबरुआ यतीन्द्रनाथ दुआरा तथा देवकान्त बरुआ जैसे कवि-कलाकारों में रवीन्द्र का प्रभाव स्पष्टतः उपलब्ध होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बीसवीं शताब्दी के दूसरे, तीसरे और चौथे दशक में भारतीय साहित्य में जिस स्वच्छन्दतावादी काव्य प्रवृत्ति का जन्म और विकास हुआ उसके प्रेरक प्रभाव यद्यपि अनेक थे जैसे कि अंग्रेजी रोमानी-काव्य मध्ययुग का सन्तकाव्य और सूफीकाव्य फिर भी उसका स्रष्टा नहीं तो नेता रवीन्द्रनाथ को निश्चय ही मानना पड़ेगा।

रवीन्द्र-काव्य का दूसरा प्रधान स्वर है सांस्कृतिक-राष्ट्रीय काव्य। सांस्कृतिक धरातल पर रवीन्द्रनाथ ने मानवता के अखंड रूप की प्रतिष्ठा कर देश काल जाति वर्ग द्वारा अविभक्त एवं अविकृत मानव-गरिमा का जयोद्घोष किया राजनीतिक और सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त मनुष्य में प्रच्छन्न देवता का उद्घाटन किया। भारत के वे कवि भी जो रहस्य द्रष्टा नहीं थे अथवा रहस्य

दर्शन में जिनकी आस्था नहीं थी जो प्रत्यक्ष और मूर्त जीवन-जगत के प्रति निष्ठावान् थे रवीन्द्र-काव्य के इस रूप की ओर आकृष्ट हुए। विश्व-मानव या सांस्कृतिक मानव का यह रूप निश्चय ही बड़ा भव्य था। इधर विदेशी दासता से आक्रान्त भारतीय जन-मानस ने और उधर भौतिक संघर्ष से जर्जर पश्चिम के प्रबुद्ध समाज ने इसका मुक्त हृदय से स्वागत किया। खंडित राष्ट्रीयता से अबद्ध अखंड मानव-संस्कृति की कल्पना जिसका निर्माण विश्व-कवि की सार्वभौम प्रतिभा ने उपनिषद् की अद्वैत-कल्पना और उससे प्रभावित मध्ययुग के संत काव्य इष्ट की मधुर कल्पना में सांसारिक विभेद को निमज्जित करनेवाली वैष्णव भावना बुद्ध की विश्व-करुणा और पश्चिम की मानवतावादी विचार धारा के रासायनिक तत्त्वों द्वारा किया था हमारे कवि-कलाकारों के लिए प्रबल प्रेरणा-स्रोत बन गई। राष्ट्रीय धरातल पर भी कवि ने अनेक संस्कृति-धाराओं के संगम में ऐसे ही भारत-तीर्थ की कल्पना की। २०वीं शती के पूर्वार्द्ध में संपूर्ण भारतीय वाङ्मय में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य की यह धारा समस्त स्रोतों के साथ प्रवाहित होती रही। तमिल के भारती मलयालम के वल्लतोल गुजराती के उमाशंकर जोशी मराठी के केशवसुत तथा गोविन्दाग्रज हिन्दी के मैथिलीशरण गुप्त माखनलाल चतुर्वेदी सियारामशरण गुप्त पंत नवीन दिनकर आदि उर्दू के चकबस्त पंजाबी के गुरमुखसिंह मुसाफ़िर, हीरासिंह 'दर्द' आदि ने अपने काव्यों में विभिन्न भंगिमाओं के साथ इस स्वर को मुखरित किया। इन कवियों ने वास्तव में रवीन्द्रनाथ से सीधा प्रभाव ग्रहण नहीं किया अपने-अपने क्षेत्र में ये सभी 'साइवेकसाम' थे। किन्तु भाव-कल्पना के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ने और विचार तथा कर्म के क्षेत्र में गांधी ने जो राष्ट्रीय-सांस्कृतिक वातावरण तैयार किया था उसका लाभ इन सभी कवियों ने ग्रहण किया। गांधी ने देश की आत्मा को प्रबुद्ध कर उसमें जो उत्साह-स्फूर्ति एवं कर्म-चेतना उत्पन्न की थी रवीन्द्रनाथ ने वैभवपूर्ण भारतीय संस्कृति के रंगों से उसे जगमग कर दिया और इस प्रकार कर्म का तेज भावना तथा कल्पना के ऐश्वर्य से मंडित हो गया। युग-धर्म से प्रेरित रवीन्द्रनाथ ने काव्य-रसायन की यह प्रक्रिया पूर्ण कर जागरण-युग के भारतीय कवियों का मार्ग प्रदर्शन किया।

आधुनिक युग के तीसरे चरण में रवीन्द्रनाथ का भारतीय कविता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जिस प्रकार स्वयं बंगला में उनकी कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई उसी प्रकार भारतीय भाषाओं के काव्य में भी अपनी-अपनी परिधि के भीतर रोमानी प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह हुआ जो आज भी चल रहा है।

गद्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव आरम्भ से ही बहुत कम रहा। भारतीय उपन्यास-कला ने बहुत शीघ्र ही युग-जीवन की बढ़ती हुई माँग को स्वीकारकर बंगला उपन्यास की रंगीन भावुकता का त्याग कर दिया और

गांधी-दर्शन से प्रभावित आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की स्वस्थ भूमिका पर अपना स्वतंत्र विकास किया। हिन्दी में प्रेमचन्द ने इस प्रवृत्ति का नेतृत्व किया गुजराती में रमणलाल बसन्तलाल देसाई ने और मराठी में हरिनारायण आप्टे ने। इन उपन्यासकारों का प्रभाव अपनी-अपनी भाषाओं से बाहर भी पड़ा। उदाहरण के लिए उर्दू और पंजाबी पर प्रेमचंद का गहरा प्रभाव था। आगे चलकर इस विवेक-सम्मत उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जब हृदय की कोमल वृत्तियों ने विद्रोह किया तब भी शरत् की आत्म-पीड़नमयी कला का भीगा प्रभाव ही भारतीय उपन्यास ने अधिक ग्रहण किया। बाद में तो मार्क्स तथा फ्रायड की विचार-धाराएं बंगला-उपन्यास की तरह भारत की विभिन्न भाषाओं के उपन्यास-साहित्य पर भी व्यापक एवं गहरा प्रभाव डालने लगी। इस प्रकार भारतीय उपन्यास विचार के क्षेत्र में गांधी मार्क्स तथा फ्रायड का और कला के क्षेत्र में प्रेमचन्द, टाल्सटाय शरत् तथा लारेन्स आदि का जितना ऋणी है उतना रवीन्द्रनाथ का नहीं। नाटक के क्षेत्र में भी यही बात है। भारतीय नाट्य साहित्य को संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा से रोमाण्टिक ड्रामा के नाट्य-शिल्प की ओर उन्मुख करने में बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय का ही योगदान अधिक है। हां भारतीय लघु कथा रवीन्द्रनाथ की कहीं अधिक ऋणी है। आधुनिक कहानी में कवित्व समन्वित मानव तत्त्व और प्रतीकात्मकता के लिए रवीन्द्रनाथ का प्रभाव उत्तरदायी हो सकता है क्योंकि रवीन्द्र साहित्य में सबसे अधिक अनुवाद उनकी गल्पों के ही हुए हैं। इस व्यापक प्रचार और प्रसार का परिणाम स्पष्ट था और स्वयं प्रेमचंद जैसे कथाकार को जिनका दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था कहानी के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्वीकार करना पड़ा। गद्य क्षेत्रों में रवीन्द्रनाथ का सबसे अधिक प्रभाव कदाचित् गद्यकाव्य पर माना जा सकता है। रवीन्द्रनाथ की कविता के अंग्रेजी गद्यानुवाद की प्रेरणा से भारत की प्रायः सभी भाषाओं में भावप्रधान गद्यगीतों का जन्म हुआ। भारतीय साहित्य की यह नई विधा जो संस्कृत कवियों के निबन्ध-रूप गद्यकाव्य से सर्वथा भिन्न थी रवीन्द्र साहित्य से तो नहीं—रवीन्द्र साहित्य के अंग्रेजी अनुवाद से प्रभावित होकर प्रकाश में आई।

भारतीय आलोचना पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव नगण्य-सा ही है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि आधुनिक भारतीय आलोचना में रवीन्द्रनाथ ने फिर से आनंदवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा की। पर यह अनुमान शायद सही नहीं है। भारतीय भाषाओं में आलोचना एवं आलोचनाशास्त्र का सर्वाधिक विकास हिन्दी और मराठी में हुआ है और इन दोनों ही भाषाओं में आलोचना की शास्त्रीय परम्परा सर्वथा अक्षुण्ण रही है। इसलिए इनकी आलोचना को भारतीय रसवाद का पुष्ट आधार प्राप्त है। संस्कृत काव्यशास्त्र में विभिन्न आचार्यों ने

दर्शन में जिनकी आस्था नहीं थी, जो प्रत्यक्ष और मूर्त जीवन-जगत के प्रति निष्ठावान् थे, रवीन्द्र-काव्य के इस रूप की ओर आकृष्ट हुए। विश्व-मानव या सांस्कृतिक मानव का यह रूप निश्चय ही बड़ा भव्य था। इधर विदेशी दासता से आक्रान्त भारतीय जन-मानस ने और उधर भौतिक संघर्ष से जर्जर पश्चिम के प्रबुद्ध समाज ने इसका मुक्त हृदय से स्वागत किया। खंडित राष्ट्रीयता से भव्यतर अखंड मानव-संस्कृति की कल्पना जिसका निर्माण विश्व-कवि की सार्वभौम प्रतिभा ने उपनिषद् की अद्वैत-कल्पना और उससे प्रभावित मध्ययुग के संत काव्य, इष्ट की मधुर कल्पना में सांसारिक विभेद को निमज्जित करनेवाली वैष्णव भावना, बुद्ध की विश्व-करुणा और पश्चिम की मानवतावादी विचार धारा के रासायनिक तत्त्वों द्वारा किया था, हमारे कवि-कलाकारों के लिए प्रथम प्रेरणा-स्रोत बन गई। राष्ट्रीय धरातल पर भी कवि ने अनेक संस्कृति-धाराओं के संगम में ऐसे ही भारत-तीर्थ की कल्पना की। २० वीं शती के पूर्वार्द्ध में सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य की यह धारा अनन्त कल्लोलों के साथ प्रवाहित होती रही। तमिल के भारती, मलयालम के वल्लतोल, गुजराती के उमाशंकर जोशी, मराठी के केशवसुत तथा गोविन्दाग्रज, हिन्दी के मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, पंत, नवीन, दिनकर आदि, उर्दू के चकबस्त, पंजाबी के गुरमुखसिंह मुसाफिर, हीरासिंह 'दर्द' आदि ने अपने काव्यों में विभिन्न भंगिमाओं के साथ इस स्वर को मुखरित किया। इन कवियों ने वास्तव में रवीन्द्रनाथ से सीधा प्रभाव ग्रहण नहीं किया, अपने-अपने क्षेत्र में ये सभी 'चाइल्डलाम' थे। किन्तु भाव-कल्पना के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ने और विचार तथा कर्म के क्षेत्र में गांधी ने जो राष्ट्रीय-सांस्कृतिक वातावरण तैयार किया था, उसका लाभ इन सभी कवियों ने ग्रहण किया। गांधी ने देश की आत्मा को प्रबुद्ध कर उसमें जो उत्साह-स्फूर्ति एवं कर्म-चेतना उत्पन्न की थी, रवीन्द्रनाथ ने वैभवपूर्ण भारतीय संस्कृति के रंगों से उसे जगमग कर दिया और इस प्रकार कर्म का तेज भावना तथा कल्पना के ऐश्वर्य से मंडित हो गया। युग-धर्म से प्रेरित रवीन्द्रनाथ ने काव्य-रसायन की यह प्रक्रिया पूर्ण कर जागरण-युग के भारतीय कवियों का मार्ग प्रदर्शन किया।

आधुनिक युग के तीसरे चरण में रवीन्द्रनाथ का भारतीय कविता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जिस प्रकार स्वयं बंगला में उनकी कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई उसी प्रकार भारतीय भाषाओं के काव्य में भी अपनी-अपनी परिधि के भीतर रोमानी प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह हुआ जो आज भी चल रहा है।

गद्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव आरम्भ से ही बहुत कम रहा। भारतीय उपन्यास-कला ने बहुत शीघ्र ही युग-जीवन की बढ़ती हुई मांग को स्वीकारकर बंगला उपन्यास की रंगीन भावुकता का त्याग कर दिया और

गांधी-दर्शन से प्रभावित आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की स्वस्थ भूमिका पर अपना स्वतंत्र विकास किया। हिन्दी में प्रेमचंद ने इस प्रवृत्ति का नेतृत्व किया, गुजराती में रमणलाल वसन्तलाल देसाई ने और मराठी में हरिनारायण आप्टे ने। इन उपन्यासकारों का प्रभाव अपनी-अपनी भाषाओं से बाहर भी पड़ा। उदाहरण के लिए उर्दू और पंजाबी पर प्रेमचंद का गहरा प्रभाव था। आगे चलकर इस विवेक-सम्मत उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जब हृदय की कोमल वृत्तियों ने विद्रोह किया तब भी शरत् की आत्म-पीड़नमयी कला का सीधा प्रभाव ही भारतीय उपन्यास ने अधिक ग्रहण किया। बाद में तो मार्क्स तथा फ्रायड की विचार-धाराएं बंगला-उपन्यास की तरह भारत की विभिन्न भाषाओं के उपन्यास साहित्य पर भी व्यापक एवं गहरा प्रभाव डालने लगीं। इस प्रकार भारतीय उपन्यास विचार के क्षेत्र में गांधी मार्क्स तथा फ्रायड का और कला के क्षेत्र में प्रेमचन्द टाल्सटाय शरत् तथा लारेन्स आदि का जितना ऋणी है उतना रवीन्द्रनाथ का नहीं। नाटक के क्षेत्र में भी यही बात है। भारतीय नाट्य साहित्य को संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा से रोमांटिक ड्रामा के नाट्य-शिल्प की ओर उन्मुख करने में बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय का ही योगदान अधिक है। हां भारतीय लघु कथा रवीन्द्रनाथ की कहीं अधिक ऋणी है। आधुनिक कहानी में कवित्व सघन मानव तत्त्व और प्रतीकात्मकता के लिए रवीन्द्रनाथ का प्रभाव उत्तरदायी हो सकता है, क्योंकि रवीन्द्र साहित्य में सबसे अधिक अनुवाद उनकी गल्पों के ही हुए हैं। इस व्यापक प्रचार और प्रसार का परिणाम स्पष्ट था और स्वयं प्रेमचंद जैसे कथाकार को जिनका दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था कहानी के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्वीकार करना पड़ा। गद्य रूपों में रवीन्द्रनाथ का सबसे अधिक प्रभाव कदाचित् गद्यकाव्य पर माना जा सकता है। रवीन्द्रनाथ की कविता के अंग्रेजी गद्यानुवाद की प्रेरणा से भारत की प्रायः सभी भाषाओं में भावप्रधान गद्यगीतों का जन्म हुआ। भारतीय साहित्य की यह नई विधा जो भारत कवियों के निरूप-रूप गद्यकाव्य से सर्वथा भिन्न थी रवीन्द्र साहित्य से तो नहीं—रवीन्द्र साहित्य के अंग्रेजी अनुवाद से प्रभावित होकर प्रकाश में आई।

भारतीय आलोचना पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव नगण्य-सा ही है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि आधुनिक भारतीय आलोचना में रवीन्द्रनाथ ने फिर से आनन्दवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा की। पर यह अनुमान शायद सही नहीं है। भारतीय भाषाओं में आलोचना एवं आलोचनाशास्त्र का सर्वाधिक विकास हिन्दी और मराठी में हुआ है और इन दोनों ही भाषाओं में आलोचना की शास्त्रीय परम्परा सर्वथा [illegible]

शब्द-धर्म के चमत्कार और भाव की भावनामयी परिणति के विषय में सूक्ष्म गहन अनुसंधान कर अन्ततः रस को ही काव्य की आत्मा माना है और रस की नाना प्रकार से व्याख्या कर उसे आत्मास्वाद के रूप में ही स्वीकार किया है। हिन्दी और मराठी के आधुनिक आलोचकों ने रस-सिद्धान्त का पुनराख्यान कर पाश्चात्य आलोचना के मानववादी अथवा सौन्दर्यवादी मूल्यों के साथ उसका सामंजस्य स्थापित किया है। शास्त्र के प्रति अटूट निष्ठा होने के कारण इन दोनों भाषाओं के आलोचकों ने आलोचना में कल्पना और भावुकता को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। सिद्धान्त रूप में रवीन्द्रनाथ की आलोचना भारतीय रसवाद और पाश्चात्य रोमानी आलोचना से प्रभावित है। वह काव्य में रसो वै सः के ही कायल हैं। किन्तु उन्होंने सुन्दर को शिव और सत्य से अलग कर के नहीं देखा और साहित्यिक क्षेत्र में उनकी आनन्द कल्पना लोक-मंगल की भावना से ओत-प्रोत है। नैतिक मूल्यों में उनकी अटूट आस्था है किन्तु ये नैतिक मूल्य आत्मा के रस में पगे हुए हैं। स्थूल उपयोगितावादी दृष्टिकोण का रवीन्द्रनाथ ने जीवन और काव्य दोनों क्षेत्रों में निषेध किया है। युगधर्म के प्रभाव के अनुरूप उन्होंने व्यापक सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर भारतीय रस-कल्पना का विस्तार कर उसे पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी रोमानी आलोचना की पद्धति में ढालकर प्रस्तुत किया है। व्यावहारिक आलोचना उनकी प्रायः सर्जनात्मक है शकुन्तला मेघदूत आदि के आध्यात्मिक अथवा अर्द्ध-आध्यात्मिक आख्यान में कवि-कल्पना का ही प्रसार अधिक है। कहने का अभिप्राय यह है कि रवीन्द्रनाथ की आलोचना अशास्त्रीय और बहुधा सर्जनात्मक है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसका प्रतिवाद किया है और उसे शुद्ध आलोचना की कोटि में परिगणित नहीं किया। हिन्दी के छायावादी कवियों—विशेषकर महादेवी का सिद्धान्त-प्रतिपादन रवीन्द्रनाथ से मिलता-जुलता है—कदाचित् उनसे प्रभावित भी हो सकता है। महाराष्ट्रीय आलोचक-प्रतिभा और भी अधिक शास्त्रनिष्ठ है। वहाँ के प्रतिनिधि आलोचकों ने भारतीय तथा यूरोपीय काव्य सिद्धान्तों का अत्यन्त मनोनिवेश के साथ विवेचन-विश्लेषण किया है; किन्तु उनकी आलोचना के आधार शास्त्र अर्थात् काव्यशास्त्र मनोविज्ञान प्रधान ही रहे हैं कल्पना और भावुकता को प्रश्रय नहीं दिया गया। इस प्रकार आधुनिक युग में भारतीय आलोचना अपने परिनिष्ठित रूप में देश-विदेश के विभिन्न मूल्यों और तत्त्वों को ग्रहण करती हुई भी शास्त्र के पथ से विचलित नहीं हुई—वह कालिदास और रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा भरत भामह आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त तथा मम्मट और उधर अरस्तू, आर्नल्ड क्रोचे का व्यापक धरातल पर मान्य और प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानती रही है।

अन्त में मेरे निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१—अनेक भाषाओं के इस देश में किसी एक भाषा के कवि का जितना प्रभाव हो सकता था अनुकूल परिस्थितियों के कारण रवीन्द्रनाथ का प्रभाव भारतीय काव्य पर उससे अधिक ही मानना चाहिए। किन्तु इस प्रभाव के सूत्रों को अलग-अलग कर देखना सरल नहीं है क्योंकि स्वयं रवीन्द्रनाथ के काव्य व्यक्तित्व का निर्माण स्वदेश-विदेश के ऐसे विभिन्न प्रभावों के संघात से हुआ था जो उनके समसामयिक एवं परवर्ती कवियों के लिए भी उसी रूप में सहज सुलभ थे। उपनिषद् के आनंदवाद वैष्णव-काव्य की मधुर भावना या इंग्लैण्ड के रोमानी कवियों के स्वच्छन्दतावाद या कालिदास काव्य के सांस्कृतिक वैभव का उपयोग रवीन्द्रनाथ ने जिस प्रकार किया है उसी प्रकार अन्य कवियों ने भी। आरम्भ में कहीं-कहीं यह प्रभाव रवीन्द्रनाथ के माध्यम से आया है किन्तु बाद में चलकर इस माध्यम की आवश्यकता नहीं पड़ी।

२—आधुनिक भारतीय साहित्य में अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से पाश्चात्य रोमानी काव्य से प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण कर जिस स्वच्छंदतावादी काव्य प्रवृत्ति का जन्म हुआ रवीन्द्रनाथ उसके स्रष्टा न होकर अग्रणी थे। अपनी महान प्रतिभा के द्वारा वह इस रोमानी काव्य-प्रवृत्ति के प्रेरक प्रभावों को भारत के अन्य स्वच्छंदतावादी कवियों से बहुत पहले ही आत्मसात् कर चुके थे। इन नवीन स्वच्छन्द अनुभूतियों और रहस्यमयी जिज्ञासाओं को मूर्त-रूप प्रदान करने के लिए जिस माध्यम की अपेक्षा थी रवीन्द्रनाथ की समृद्ध कारयित्री प्रतिभा उसका निर्माण कर चुकी थी जिससे परवर्ती कवियों का कार्य सुकर हो गया।

३—सामान्य रूप में बीसवीं शताब्दी का प्रतिनिधि जीवन-दर्शन है मानवतावाद जिसके भारत में दो प्रमुख व्याख्याकार हुए एक गांधी और दूसरे रवीन्द्र। गांधी ने मानव-सत्य का जहाँ अनुभव और व्यवहार के द्वारा साक्षात्कार किया वहाँ रवीन्द्रनाथ ने कल्पना के द्वारा। दोनों के मानवतावाद की परिणति भौतिक सीमाओं को पारकर आत्मवाद में होती है। किन्तु फिर भी दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। गांधी-दर्शन निरानंद है जब कि रवीन्द्र-दर्शन आनन्द से ओत प्रोत है। युग-धर्म के इन दोनों द्रष्टाओं ने स्वभावतः ही समसामयिक साहित्य को प्रभावित किया है। गांधी की दृष्टि आदर्शवादी एवं धार्मिक थी अतः साहित्य के क्षेत्र में उनके प्रभाव से लोकमंगल की नये एवं प्रबल रूप में प्रतिष्ठा हुई और लोक-कल्याण को साहित्य का एकमात्र लक्ष्य मानने वाले प्रेमचन्द तथा उनके समानधर्मा साहित्यकार अपनी कला में उसकी अभिव्यक्ति करने लगे। उधर कल्पनाशील तथा भावुक कवि-मानसों को गांधी के एकान्त उपयोगितावादी निरानंद कला-दर्शन से तृप्ति नहीं हुई उनके आदर्श बने रवीन्द्रनाथ। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने एक ओर स्वच्छंदतावादी-रहस्यवादी काव्य प्रवृत्ति को प्रभावित किया और दूसरी ओर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा को भी।

४—गद्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुत कम रहा। उनकी अपेक्षा बंगला के ही शरत् ने भारतीय उपन्यास को और द्विजेन्द्रलाल राय ने भारतीय नाटक को अधिक प्रभावित किया। जब तक इन दोनों कलाकारों की दुर्बलता का उद्घाटन हुआ तब तक भारतीय उपन्यासकार और नाटककार यूरोप की कला प्रवृत्तियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ चुके थे और स्वयं बंगला के कलाकार भी रवीन्द्रनाथ आदि से विमुख होकर दूसरी दिशा में प्रवृत्त हो गए थे।

५—सब मिलाकर रवीन्द्रनाथ ने भारत के साहित्यिक वातावरण के नव निर्माण में सक्रिय योगदान कर प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा प्रेरणा ही अधिक प्रदान की। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं तक ही सीमित रहा। बाद में प्रत्येक भाषा के समर्थ कवि का स्वतंत्र विकास हुआ और अनेक ने ऐसी कलाकृतियाँ भी प्रस्तुत की जो रवीन्द्रनाथ की श्रेष्ठ उपलब्धियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। रवीन्द्रनाथ की समवेत उपलब्धि इतनी प्रचुर और महान् है कि आधुनिक भारत का अन्य कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। किन्तु इस युग की कई समृद्ध भाषाओं में ऐसी प्रतिभाएं हुई हैं जिनकी उपलब्धियों का इकाई रूप में कम महत्त्व नहीं है। आज के जागरूक आलोचक का यह कर्तव्य है कि राजनीतिक प्रचार से अनाक्रान्त रहकर सन्तुलित एवं अनासक्त बुद्धि से अन्य प्रतिभाओं का अवमूल्यन न करता हुआ आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास में रवीन्द्रनाथ के योगदान का मूल्यांकन करे। विश्वकवि के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने की यही सर्व श्रेष्ठ पद्धति है—अभाव में भाव का अनुसंधान कर, अनुमान के आधार पर इधर-उधर से उक्तियाँ और विचार एकत्र कर बरबस यह सिद्ध करना कि हमारे वर्तमान साहित्य में जो कुछ सुन्दर और उदात्त है वह सब रवीन्द्रनाथ का दान है घोर साहित्यिक अपराध होगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हिन्दी साहित्य

हिन्दी का यह सौभाग्य था और दुर्भाग्य भी कि देश की संविधान सभा ने इसे राज-भाषा घोषित किया। सौभाग्य इसलिए कि स्वतन्त्र भारत जैसे महान् देश की राष्ट्रीय एकता की सूत्रधारिणी बनने का गौरव उसे मिला। दुर्भाग्य इसलिए कि वह राजनीति के वात्याचक्र में फंस गई। हिन्दी का प्रश्न राजनीतिक नेताओं से इतनी बुरी तरह घिर गया कि साहित्यकार के लिए उसपर बैठने की जगह भी नहीं रही। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी साहित्यकार की चेतना दो भिन्न प्राय विरोधी सरणियों में विभक्त हो गई। प्रथम पहल तो उसे भाषा की समस्या से उलझना पड़ा। फिर साहित्य की समृद्धि का प्रश्न सामने आया। व्यापक अर्थ में साहित्य के दो अंग हैं — एक शास्त्र और दूसरा काव्य। शास्त्र से अभिप्रेत है ज्ञान-व्यवहार का साहित्य और काव्य रस के साहित्य का वाचक है। इस तरह स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी साहित्यकार के सामने तीन मौलिक समस्याएं उठ खड़ी हुईं जो बाह्य रूप में सम्बद्ध होती हुई भी तत्त्व रूप में भिन्न थीं — (१) भाषा की (२) व्यावहारिक साहित्य की और (३) काव्य अथवा रस के साहित्य की।

सन् १९४७ से लेकर सन् १९६१ तक इन चौदह वर्षों में हिन्दी साहित्य के विकास की ये तीन रेखाएं हैं जिन्हें आधार मानकर उसकी उपलब्धियों का सिंहावलोकन किया जा सकता है।

भारत की राजभाषा होते ही हिन्दी-भाषा के प्रश्न ने अनायास ही सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया। एक तो इसका शुद्ध राजनीतिक पहलू है जिसमें अनेक महारथी जूझ गए और आज भी जूझ रहे हैं। हमारे मन में इनके प्रति वही सम-मिश्रित आदर है जो सामान्य बुद्धिजीवी व्यक्ति को योद्धा के प्रति हो सकता है। वे हमारे नमस्य हैं। किन्तु भाषा का एक साहित्यिक पक्ष भी है और वह हमारा अपना दायित्व है। यों तो रामप्रसाद निरंजनी से लेकर हमारी अपनी पीढ़ी के हिन्दी लेखकों तक हिन्दी भाषा की शक्तियों का समुचित विकास

हो चुका था—महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसको स्थिर रूप दिया, पद्मसिंह शर्मा ने उसे गोष्ठी-मंडन बनाया, प्रेमचन्द ने उसकी व्यावहारिक शक्ति का विकास किया, रामचन्द्र शुक्ल ने गम्भीर विवेचन के माध्यम रूप में उसका परिपाक किया, पंत ने उसको सूक्ष्म सौन्दर्य-विवृत्तियों के उद्घाटन की क्षमता दी और सन् १९४७ में आधुनिक हिन्दी एक प्रौढ़-परिपक्व भाषा के रूप में विद्यमान थी। परन्तु राजभाषा बनते ही उसके सामने अनायास ही अनेक समस्याएं उठ खड़ी हुईं और काव्य-साहित्य के दायित्व को विश्वास के साथ निबाहने वाली भाषा नवीन दायित्वों के भार से जैसे कुछ समय के लिए कांप गई। किन्तु आधार पुष्ट था—और डा. रघुवीर जैसे मेधावी आचार्यों ने उसका पूर्ण उपयोग कर हिन्दी की अन्तर्भूत शक्ति का सम्यक विकास आरम्भ कर दिया। डा० रघुवीर के आगे-पीछे और भी शब्दकार इस दिशा में बढ़े—जैसे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और हिन्दी के वयोवृद्ध कोशकार बाबू रामचन्द्र वर्मा आदि। प्रारम्भ में आचार्य रघुवीर का बड़ा विरोध हुआ। पहली बार जब मैंने संविधान-अनुवाद-समिति में उनके साथ कार्य आरम्भ किया तो मुझको भी उनके शब्द और शब्दों से भी अधिक उनकी असहिष्णु पद्धति सर्वथा अग्राह्य प्रतीत हुई। किन्तु जैसे-जैसे हम शब्दों की आत्मा में प्रवेश करते गए, वैसे-वैसे मुझे यह विश्वास होने लगा कि अपने समस्त गुण-दोषों के रहते हुए भी उनका मार्ग ही ठीक है। वास्तव में आचार्य रघुवीर के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद में। उनका प्रमुख दोष यह है कि हिन्दी भाषा और साहित्य की आन्तरिक प्रकृति से उनका सहज सम्बन्ध नहीं है और दूसरे वे शब्दकार हैं, शैलीकार नहीं। किन्तु फिर भी अपने क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। उनके साधन और उपकरण अत्यन्त समृद्ध हैं। संस्कृत भाषा की निर्माण-क्षमता को उन्होंने पूरी तरह से आत्मसात् कर लिया है और पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में उनको शब्द-निर्माण कला का अद्भुत अभ्यास हो गया है। उनकी एक प्रत्यक्ष उपलब्धि तो यही है कि उन्होंने अकेले व्यक्ति ने लक्षावधि शब्दों का निर्माण कर दिया है। किन्तु इससे भी बड़ी उपलब्धि उनकी यह है कि उन्होंने शब्द-निर्माण के मूल सिद्धान्त का आविष्कार या कम से कम अत्यन्त सफल प्रयोग किया है। उनका प्रायः सभी दिशाओं से विरोध हुआ किन्तु अन्त में अब उन्हीं की पद्धति का अवलम्बन किया जा रहा है। जो नहीं कर रहे हैं वे 'विधायिका' और 'कोर्ट' जैसे शब्दों का निर्माण कर इस सभ्य देश की राष्ट्रभाषा का अपमान कर रहे हैं।

डा. रघुवीर के बाद शिक्षा मंत्रालय ने यह कार्य अपने हाथ में लिया। मंत्रालय के तत्वावधान में अनेक भाषाविदों और विभिन्न शास्त्रीय विषयों के आचार्यों की सहायता से विपुल संख्या में पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो

चुका है और अब उसके आधार पर पारिभाषिक कोश का पहला भाग मुद्रण के लिए तैयार हो रहा है। यह शब्दावली स्वभावतः अधिक व्यापक है। एक तो इसकी रचना में अनेक प्रतिनिधि विद्वानों का हाथ है और दूसरे केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की स्वीकृति इसे प्राप्त है इसलिए इसका प्रचार और प्रसार बढ़ रहा है। इसी बीच में कुछ सुगम कोश भी प्रकाशित हो चुके हैं—जैसे डा० हरदेव बाहरी का अंग्रेजी हिन्दी कोश और श्री रघुराज गुप्त का 'समाज शास्त्र-मानवशास्त्र पर्याय कोश'। इस विषय में श्री मरवाहे द्वारा सम्पादित 'व्यवहार कोश' भी उल्लेखनीय है, जिसमें सभी भारतीय भाषाओं के पर्याय एकत्र मिलते हैं। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी भाषा की शब्द-शक्ति का निश्चय ही तीनों रूपों में विकास हुआ है (१) विपुल संख्या में नवीन शब्द उपलब्ध हुए हैं (२) शब्दों के रूप स्थिर हुए हैं और हो रहे हैं ( ) हमारी भाषा ने अर्थगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों को अभिव्यक्त करने की क्षमता का अर्जन किया है। भाषा में भावप्रकाशन की जो शक्ति आज है वह सन् १९४७ से पूर्व नहीं थी। किन्तु चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। हमारे अनेक साहित्यकारों को यह शंका है कि संस्कृत का वर्तमान प्रभाव हिन्दी के स्वरूप का नाश करता जा रहा है। मैं इस शंका को सर्वथा निर्मूल नहीं मानता किन्तु फिर भी मैं विशेष चिन्तित नहीं हूं क्योंकि इसमें हानि की अपेक्षा लाभ अधिक है। भाषा की गरिमा विचारक्षमता और व्यंजना शक्ति का जितना विस्तार संस्कृत के आधार पर हो सकता है उतना इधर-उधर से बिना किसी नियम अथवा क्रम के गृहीत शब्दों से नहीं हो सकता। इस विकासशील भाषा के विरुद्ध एक आक्षेप और भी है जो वास्तव में उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता और वह यह कि इस प्रकार क्या हम वास्तव में एक अनुवाद भाषा का विकास नहीं कर रहे? आज जिन नवनिर्मित शब्दों से हिन्दी का भण्डार समृद्ध हुआ है वे सभी अनूदित शब्द हैं। ऐसी स्थिति में क्या यह विकास स्वाभाविक माना जा सकता है? यह शंका मेरे मन में भी बार-बार उठती है किन्तु इसका समाधान भी दूर नहीं है और वह यह है कि कोई भी भाषा अनुवाद की भाषा नहीं रह सकती। जो अनूदित शब्द आज जो रहे हैं वे शीघ्र ही अभिन्न रूप से घुल-मिल जाएंगे। जिस महान् देश की संस्कृति एक के बाद एक विदेशी जाति को आत्मसात् करती चली गई, उसकी भाषा को कुछ नई शब्द-धाराओं को पचाने में कितनी देर लगेगी?

भाषा के उपरान्त राजनीतिक दृष्टि से दूसरा प्रश्न सामने आता व्यवहार के साहित्य का। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी का यह अंग निश्चय ही अविकसित था और अब भी है। कारण यह था कि इसके विकास का अवसर ही नहीं मिला। शासन और शिक्षा दोनों का माध्यम अंग्रेजी थी

और इस प्रकार का समस्त ज्ञान-साहित्य उसीमें प्रस्तुत होता रहा। किन्तु स्वतन्त्र राष्ट्र के सामने जब शासन तथा शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी के व्यवहार का प्रश्न आया तो आवश्यक साहित्य की मांग होने लगी। पिछले चौदह वर्षों में स्थिति में निश्चय ही सुधार हुआ है। भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है और कुछ वर्ष पूर्व शिक्षा मंत्रालय द्वारा आयोजित एक सर्वभाषा वैज्ञानिक-ग्रन्थ-प्रदर्शनी से यह सिद्ध हो चुका है कि इन विषयों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इस संदर्भ में सबसे बड़ी उपलब्धि है नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी विश्वकोश, भाग १। इसके अतिरिक्त उत्तरप्रदेश की हिन्दी-समिति तथा बिहार की राष्ट्रभाषा-परिषद् के भी अनेक प्रकाशन अपने ढंग से उपयोगी हैं। फिर भी अभाव तो मिटा नहीं है। वास्तव में हिन्दी का यह अभाव इतना बड़ा है कि इसके लिए नियमित रूप से बड़े पैमाने पर—प्रायः युद्ध-स्तर पर—प्रयत्न अनिवार्य है। यह बड़े ही खेद का विषय है कि अभी तक आलोचना ही अधिक हो रही है और निर्माण-कार्य की गति अत्यन्त मंथर है। वैसे तो केन्द्र तथा अन्य राज्य सरकारों ने इस विषय में योजनाएं बनाई हैं और थोड़ा-बहुत कार्य भी हो रहा है परन्तु आवश्यकता को देखते हुए पूर्ति नगण्य-सी ही है। इस अप्रगति के अनेक कारण हैं। एक तो कारण यही है कि अभी अधिकांश क्षेत्रों में अंग्रेजी का ही प्रयोग चल रहा है और हिन्दी-लेखकों के लिए कोई प्रेरणा नहीं है। दूसरे, इन विषयों में हिन्दी के समर्थ लेखक भी अनेक नहीं हैं। तीसरे, शासन और शिक्षा दोनों ही में देश के दुर्भाग्य से प्रमुख स्थान ऐसे व्यक्तियों के अधिकार में हैं जिनका हिन्दी-ज्ञान पर्याप्त नहीं है। इनमें से सभी हिन्दी के विरोधी नहीं हैं। अनेक के मन में हिन्दी के प्रति वास्तविक ममत्व है किन्तु प्रश्न तो वर्तमान परिस्थिति का है। चौथे ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं है जिनके मन में स्वार्थवश और कदाचित् सिद्धान्तवश भी हिन्दी के प्रति विद्वेष की भावना है। इन व्यक्तियों ने कुतर्कणा का एक चक्रव्यूह-सा रच दिया है और उसकी आड़ में अपनी हित-रक्षा करना चाहते हैं—हिन्दी के अभीष्ट ग्रन्थों का अभाव है इसलिए वह उच्च शिक्षा एवं शासन का माध्यम नहीं बन सकती और जब तक हिन्दी का उपयोग इन क्षेत्रों में नहीं होगा तब तक अभीष्ट ग्रन्थों का अभाव बना रहेगा। यह स्थिति वास्तव में चिन्त्य है परन्तु हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्र का हित व्यक्ति के हित से अधिक बलिष्ठ है और काल के दुर्दम प्रवाह को विपरीत दिशा में मोड़ा नहीं जा सकता। इस दिशा में तुरन्त ही कार्यवाही होनी चाहिए और यह कार्य बेगार में पकड़े हुए कुछ विद्वानों की सहायता से प्रकीर्ण प्रयत्नों द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए तो एक बृहद् राष्ट्रीय ज्ञान-परिषद् की स्थापना अनिवार्य है।

अब रह जाता है सर्जनात्मक साहित्य—अथवा रस का साहित्य। साहित्य का यह अंग प्रकृति से थोड़ा अवश्य होता है—वह न राजनीति का आदेश मानता है और न योजनाओं में ही परिबद्ध हो सकता है। पर रसचेता कलाकार भी अपनी परिस्थिति से सर्वथा निरपेक्ष तो नहीं हो सकता—और फिर स्वतन्त्रता तथा विभाजन की परिस्थितियाँ तो असाधारण थीं। सन् १९४७ के उपरान्त देश में अनेक घटनाएं ऐसी घटीं जिनका किसी भी संवेदनशील व्यक्ति की अन्तश्चेतना पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। सबसे पहले स्वतन्त्रता प्राप्ति की घटना ही एक भव्य घटना थी—देश के इतिहास में ऐसी घटना शताब्दियों बाद घटी थी। भारत के कवि-कलाकार की युग-युग से अपमानित अंतरात्मा ने मुक्ति की सांस ली। उसके मन में एक अभूतपूर्व आत्म-विश्वास जगा। विश्व-कल्याण के जिन स्वप्नों को वह गांधी और गांधी के पूर्वज ऋषियों के मन्त्र-बल से दासता की अभिशप्त रात्रि में भी संजोता रहा था उनको पहली बार सार्थक करने का अवसर आया। भारत के संस्कृत हृदय ने बिना अहंकार के बिना किसी मद अथवा औद्धत्य के अपनी मुक्ति को अखिल विश्व की मुक्ति का प्रतीक माना। भारत के राजनीतिज्ञों ने और कवियों ने एक स्वर से यह उद्‌घोष किया

भारत स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र सभी जन हों!

जैसे-जैसे समय बीतता गया भारतवर्ष की विश्व-मैत्री की नीति अधिक स्पष्ट और भास्वर होती गई। इसका हमारे काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वास्तव में इस नीति की मूल चेतना ही काव्यात्मक है और इसका विकास कूटनीतिज्ञों की मंत्रणाओं के आधार पर नहीं हुआ रवीन्द्र और उनके अग्रज एवं अनुज कवियों की आप्त वाणी के प्रभाव से ही हुआ है। उपनिषद् से लेकर छाया वाद तक की भारतीय काव्य-परम्परा का पवित्र सम्बल उसे प्राप्त है। हिन्दी में इस विषय पर अनेक कवियों ने अनेक रचनाएं कीं और उनमें से अधिकांश का काव्यगुण नगण्य नहीं है। फिर भी इनमें सबसे प्रबल स्वर पन्त सियारामशरण नवीन और दिनकर का ही रहा। पन्त और सियारामशरण में जहां देश की मुक्त आत्मा का पवित्र उल्लास है वहां नवीन और दिनकर में उसका सात्विक ओज है।

किन्तु स्वतन्त्रता का यह वरदान विभाजन के अभिशाप के साथ-साथ आया। मुक्त आकाश में अरुणोदय हुआ ही था कि गृह-कलह के बादल घिर आए। परतन्त्र राष्ट्र के उपचेतन में संचित विकृतियां अनायास हो उभर आईं और समस्त देश का वातावरण पाशव शक्तियों के अट्टहास से गूंज उठा। यह मानव चेतना की घोरतम विरसता के दिन थे किन्तु साहित्य में इनका प्रभाव सर्वथा नगण्य ही रहा। भारतीय साहित्य के पर्यवेक्षक का हृदय यह देखकर

सका ही एक मधुर गर्व से उत्फुल्ल हो उठेगा कि हिन्दी के एक भी उत्तरदायी साहित्यकार ने साम्प्रदायिक विद्वेष को प्रश्रय नहीं दिया। इस घटना से प्रेरित जो साहित्य प्राज उपलब्ध है, उसमें तत्कालीन विक्षिप्त पशुता में मानव की शुद्ध-बुद्ध आत्मा का ही अनुसंधान अनिवार्य रूप से मिलता है। इस प्रकार का साहित्य परिमाण में अधिक नहीं रचा गया। भारत-विभाजन और उसकी अनुवर्ती विभीषिकाओं की प्रतिध्वनि थोड़ी-सी कहानियों कुछेक एकांकियों और मुश्किल से दो-चार उपन्यासों में ही मिलती है। हिन्दी के अधिकांश समर्थ कलाकारों ने तो अपनी इस लज्जा को छिपाने का ही प्रयत्न किया है।

इस नर-मेध की पूर्णाहुति हुई राष्ट्रपिता गांधी के बलिदान से। गांधी का यह बलिदान देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक विराट घटना थी। रवीन्द्रनाथ ने महाकाव्य के विषय में लिखा है— "इसी प्रकार मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार पा जाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उस परमपुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश में रहती है और उसका शिखर मेघों को भेदकर आकाश में उठता है। उस मन्दिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है नाना दिग्देशों से आ-आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसीको कहते हैं महाकाव्य।

इस दृष्टि से हमारा विश्वास है कि आधुनिक विश्व के इतिहास म गांधी से अधिक न तो कोई महाकाव्योचित चरित्र-नायक ही जन्मा है और न उनके बलिदान से अधिक महाकाव्योचित घटना ही घटी है।

गांधीजी क जीवन-मरण को लेकर हिन्दी मे अनेक कविताएं लिखी गई। प्रमुख कवियों में पंत सियारामशरण गुप्त नवीन दिनकर, बच्चन नरेन्द्र और सुमन आदि ने व्यवस्थित रूप स रचनाएं की हैं। उनके बलिदान से प्रेरित होकर भी प्राय इन्ही कवियों ने अनेक रचनाएं प्रस्तुत की। परन्तु इनमें से अधिकांश कविताएं विषय की गरिमा के उपयुक्त नही बन सकी। इसका कारण स्पष्ट है—भारतीय काव्यशास्त्र में प्रकृत भाव और काव्यगत भाव में भेद किया गया है और हमारे आचार्यों ने बड़े मार्मिक ढंग से यह स्पष्ट किया है कि जीवनगत अनुभूतियां अपने प्रकृत रूप में नही वरन् संस्कार रूप में ही काव्य का विषय बन सकती हैं। प्रकृत रूप मे उनका ऐन्द्रिय तत्त्व रसात्मक निवन्धन में बाधक होता है। गांधी के महानिर्वाण से सम्बद्ध काव्य में इसीलिए अपेक्षित उदात्त रस का संचार नही हो सका क्योंकि उसका घाव अभी तक हरा है और आज के कवि के लिए, जिसने कि उसको प्रत्यक्ष रूप से सहा है अभी वह संस्कार

नहीं बन पाया—सम्भव है वर्षों तक बन भी न पाए। इसलिए गांधी महा काव्य कदाचित् कुछ समय बाद ही लिखा जा सकता जबकि गांधीजी के जीवन मरण से सम्बद्ध हमारी युगानुभूति प्रकृत अनुभूति न रहकर संस्कार बन जाएगी।

प्रस्तुत कालावधि में काव्य के दो और प्रमुख विषय हमारे सामने आए (१) भारतवर्ष की सफल अन्तर्राष्ट्रीय शांति-नीति (२) सन्त विनोबा का भूदान-आन्दोलन। तत्त्व रूप में इस देश के कवि के लिए ये कोई नये विषय नहीं हैं। नेहरू की शांति-नीति गांधी की अहिंसा की राजनीतिक अभिव्यंजना है और विनोबा का भूदान यज्ञ उसकी आर्थिक अभिव्यक्ति। काव्यशास्त्र के शब्दों में दोनों का स्थायी भाव एक ही है। नवीनजी तथा श्री सियारामशरण आदि ने इस विषय को निष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

ऊपर जिन काव्य-विषयों का उल्लेख किया गया है वे मूलतः एक ही प्रवृत्ति के अंग हैं—और यह प्रवृत्ति वही है जिसे हमने अपनी 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां' पुस्तक में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति के नाम से अभिहित किया है। यह काव्य प्रवृत्ति वस्तुतः नई नहीं है वरन् स्वतंत्रता के बहुत पहले से ही हमारे साहित्य में इसका अस्तित्व रहा है। स्वतंत्रता के उपरांत इसके रूप में परिवर्तन अवश्य हुआ है किन्तु मूल तत्त्व वे ही रहे हैं। एक तो परतंत्र देश की वह अवरुद्ध हुंकार आज इसमें नहीं रही उसका स्थान स्वतंत्र राष्ट्र के आत्म-विश्वास ने ले लिया है। दूसरे, अपने राजनीतिक संघर्ष का सफल अंत हो जाने से अहिंसा में उसकी आस्था अत्यन्त दृढ़ हो गई है। तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी शांति-नीति के निरन्तर सफल होते जाने से विश्व-बन्धुत्व के भावादर्श वस्तु-सत्य में परिणत होने लगे हैं। इस प्रकार संदेह, असहयोग प्रतिरोध आदि का निराकरण हो जाने से जीवन के आस्तिक मूल्यों का पोषण हुआ है जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के बाद की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के तामसिक गुण प्रायः निःशेष हो गए हैं और शुद्ध सात्त्विक उत्साह, उल्लास की परिपुष्टि हुई है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आज उसके राष्ट्रीय तत्त्व पृथक न रहकर बहुत कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ ही घुल-मिल गए हैं। वर्तमान हिन्दी कविता की सर्वप्रमुख धारा यही है। वास्तव में स्वतंत्रता-पूर्व युग की तीन प्रवृत्तियां—ओज और उत्साह से अनुप्रेरित राष्ट्रीय प्रवृत्ति सत्य चिन्तन से अनुप्राणित सांस्कृतिक प्रवृत्ति और सौंदर्य-भावना से स्फूर्त छायावादी प्रवृत्ति इस त्रिवेणी में मिलकर एकाकार हो गई हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि इसकी उपलब्धि क्या है? इसका उत्तर यह है कि अभी वर्तमान काव्य की अंतश्चेतना का निर्माण हो रहा है। आज नहीं तो कल कोई समर्थ कवि अपनी अमृतवाणी में इसका उद्घोष करेगा।

इस परिधि के बाहर भी एक ऐसा कवि वर्ग है जो अभीष्ट संस्कारों के अभाव में परंपरा से पोषित आस्तिक मूल्यों को ग्रहण करने में असमर्थ है। निदान वह जीवन के उपर्युक्त सांस्कृतिक मूल्यों के विरुद्ध 'प्रगति' अथवा 'प्रयोग' कर रहा है। सक्रियता की दृष्टि से यह वर्ग पिछड़ा नहीं है और अपने ढंग से यह भी जीवन की व्याख्या करने का दावा करता है। १९४७ से पूर्व जो प्रगतिवादी थे उनमें से संस्कारशील कवियों ने सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकार कर लिया है किन्तु जिनकी प्रकृति उनके साथ समझौता नहीं कर पाई, वे या तो कभी-कभी देश के शासन विधान के विरुद्ध बड़बड़ाने लगते हैं और या फिर व्यक्ति की कुण्ठाओं को काव्य में मूर्त करने का सफल-असफल प्रयत्न करते हैं। मेरे आस्तिक संस्कार इस प्रकार की कविता से कभी सन्धि नहीं कर सके—किन्तु फिर भी वस्तु-चिन्तन करने पर मुझे यह लगता है कि यह प्रवृत्ति केवल बौद्धिक विकृति-मात्र नहीं है अथवा यदि केवल बौद्धिक विकृति है भी तब भी आज के जीवन में अस्वाभाविक नहीं है। आज का बुद्धिजीवी युवक आस्तिक नहीं है। वर्तमान उसकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं का परितोष नहीं कर रहा वह अनुभव करता है कि उसकी प्रतिभा का मूल्य उसे नहीं मिल रहा—और वह क्षुब्ध है। सामाजिक चेतना उसकी इतनी विकसित नहीं हो पाई कि राष्ट्र के सामूहिक विकास अथवा कम से कम विकास प्रयत्नों से प्रेरणा ग्रहण कर सके संस्कार उसके इतने आस्तिक नहीं रह गये कि भावी की स्वस्थ कल्पना उसे परितोष दे सके। अन्त में रह जाता है वह स्वयं और आधुनिक मतिवादों द्वारा पोषित उसकी बुद्धि। अतएव कुण्ठित मन नास्तिक बुद्धि के साथ तरह तरह के खेल खेलने लगता है। आज की प्रयोगवादी कविता की यही अंतरंग व्याख्या है। यह काव्य-प्रवृत्ति आज के जीवन म अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु फिर भी सत्य भी नहीं है क्योंकि यह नास्ति पर आधृत है अस्ति पर नहीं।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों की उपलब्धियां भी महत्त्वहीन नहीं हैं। हिन्दी-उपन्यास काफ़ी सक्रिय रहा है यद्यपि आज हिन्दी-उपन्यास की अधिकांश प्रवृत्तियों में प्रायः स्वतंत्रता-पूर्व युग की विस्तृति ही मिलती है फिर भी कलात्मक स्तर का उचित संरक्षण हुआ है। प्रेमचन्द की सामाजिक-राजनीतिक-उपन्यास-परम्परा में अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' तथा 'सुहाग के नूपुर' का स्थान अक्षुण्ण रहेगा। इस वर्ग के अन्य ख्यातिलब्ध उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ अश्क ने गुण तथा परिमाण दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास के क्षेत्र में अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पंछी' और जैनेन्द्र की 'सुखदा' तथा 'जयवर्धन' आदि रचनाएं विशेषतः उल्लेखनीय हैं यद्यपि यह कहना कठिन होगा कि इनमें से कोई भी कृति अपने रचयिता की पूर्व-उपलब्धियों से

श्रेष्ठतर है। इस दृष्टि से वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल की सफलता अधिक स्पृहणीय है। वर्माजी की 'झाँसी की रानी' और 'मृगनयनी' दोनों ही श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास हैं—हिन्दी में अपने वर्ग की वे अन्यतम विभूतियाँ हैं। और उधर यशपाल-कृत 'झूठा सच' भी अपने महाकाव्योचित आयाम तथा गरिमा के कारण प्रगतिवादी उपन्यासों में निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उपन्यास के एक नवीन रूप का भी आविर्भाव हुआ है और वह है 'आंचलिक उपन्यास'।—इस संदर्भ में रेणु ने 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की रचना द्वारा एक नवीन दिशा में सफल प्रयोग किये हैं, यद्यपि अभी इन्हें प्रयोग से आगे सिद्धि मानना जल्दबाजी होगी।

हिन्दी नाटक अब रंगमंच के अधिक निकट आ गया है और कुछ ऐसी नई प्रतिभाएं उभरकर सामने आ रही हैं जिनका अपने अग्रवर्ती नाटककारों—लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास आदि की अपेक्षा रंगमंच की विकासशील कला से अधिक घनिष्ठ एवं जीवंत सम्पर्क है। इस युग में सर्वाधिक विकास हुआ है आलोचना का। इसमें संदेह नहीं कि आचार्य शुक्ल की जैसी मेधा का वरदान आज उसे प्राप्त नहीं है किन्तु उनकी स्वस्थ परम्पराओं का पिछले १३-१४ वर्षों में समुचित विकास हुआ है और अब भी हो रहा है। इनके अतिरिक्त समाजविज्ञान मनोविश्लेषण-शास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र की नवीन पद्धतियों के सम्यक उपयोग से नवीन आलोचना प्रणालियों का भी आविर्भाव हुआ है। इधर भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों का आख्यान-पुनराख्यान भी द्रुत गति से चल रहा है; स्वदेश विदेश के प्रायः सभी आचार्यों के शास्त्र-ग्रंथ हिन्दी में सुलभ हैं और हिन्दी का काव्य शास्त्र आज भारतीय भाषाओं में सर्वाधिक समृद्ध है। नवीन शोध के परिणामस्वरूप प्रभूत ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में आई है और हिन्दी के सिद्ध सेवक नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' में उसका उचित उपयोग कर रहे हैं। यह इतिहास स्वयं अपने आप में एक महान् अनुष्ठान है—इसके तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं और चौदह पर कार्य हो रहा है। पूरा हो जाने पर लगभग दस हजार पृष्ठों का यह महाग्रंथ विश्व का कदाचित् सबसे बड़ा साहित्यिक इतिहास होगा जिसे अर्मण्य 'पुस्तक-कीट' एकत्र होकर भी काटने में असमर्थ रहेंगे। भाषाविज्ञान की प्रगति भी उपेक्षणीय नहीं है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के निकट सम्पर्क के फलस्वरूप तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए व्यापक क्षेत्र मिल गया है और भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षणों के द्वारा देश की अनेक बोलियों के अध्ययन की विस्तृत योजनाओं पर कार्य हो रहा है।

अन्त में हमारा निष्कर्ष यह है कि स्वाधीन भारत में हिन्दी की प्रगति के

दोनों ही पहलू हैं। ज्ञान के साहित्य में जहाँ अभूतपूर्व उन्नति हुई है वहाँ रस के साहित्य की सिद्धि अधिक से अधिक संतोष-प्रद ही कही जा सकती है—उसपर गर्व करने का कोई विशेष कारण नहीं है। परन्तु यह तो उपलब्धि का समय वास्तव में है भी नहीं—यह तो निर्माण-काल है वरन् यह कहना चाहिए कि निर्माण का भी प्रारम्भकाल है। निर्माण और सृजन दोनों में बाह्य समानता होने पर भी मौलिक भेद है। निर्माण जहाँ योजनाबद्ध विवेकपूर्ण तथा प्रयत्न-साध्य कर्म है वहाँ सृजन अंतस्स्फूर्त अयत्न-साध्य क्रिया है जो न योजना में बाँधी जा सकती है और न हानि-लाभ के विवेक से नियन्त्रित हो सकती है। हिन्दी का साहित्यकार आज निर्माण की योजनाओं में संलग्न है जिनके परिणाम अपेक्षित अवधि के उपरांत ही उपलब्ध होंगे। अतएव आज की उपलब्धि का मूल्यांकन परिणाम के आधार पर नहीं हमारे प्रयत्नों के आधार पर होना चाहिए।*

छायावाद की परिभाषा

आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अतर्मुखी साधना प्रारम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्म-वृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्होंने भाव-वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरांत यूरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था। जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में मार्थिक पराभव के होते हुए भी जीवन में एक स्पंदन था। भारत की उद्‌बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशाएं लगाए बैठी थी। उसमें स्वप्नों की चंचलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर-काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषाएं उड़ने के लिए पंख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूप-रेखा नहीं बन पाई थी परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छंद विचारों के संपर्क से राजनीतिक और सामाजिक बंधनों के प्रति असंतोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की प्रबल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असंतोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी। निदान वे अतर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं और वहां से क्षति पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।

छायावाद में आरंभ से ही जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा एवं विमुखता का भाव मिलता है। नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिए चंचल हो रहे थे परंतु वास्तविक जीवन में उनके लिए कोई संभावना नहीं थी। अतएव स्वभावतः ही उसकी वृत्ति

निकट यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएं कठोर वर्तमान से कुंठित होकर स्वर्ण-अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं—ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थी—कोलाहल के जीवन से थककर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थीं—स्थूल से सहमकर सूक्ष्म की उपासना करती थीं। आज के आलोचक इसे *पलायन* कहकर तिरस्कृत करते हैं परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है जो मूल रूप में मानसिक कुण्ठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष में पलायन का रूप नहीं है। वास्तव पर अंतर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल वृत्ति है। उसकी सभी अन्य प्रवृत्तियों की इसी अतर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

व्यक्तिवाद

यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जिन विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है उनमें सबसे मुख्य है व्यक्तिवाद। व्यक्तिवाद के दो रूप हैं। एक विषय पर विषयी की सत्ता का आरोप अथवा वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओं में रंगकर देखना। दूसरा समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में ही लीन रहना।

द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। उसकी प्रतिक्रिया में छायावाद की कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। दूसरे, उस कविता का विषय बहिरंग सामाजिक जीवन था द्विवेदी युग का कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावाद की कविता का विषय अन्तरंग व्यक्तिगत जीवन हुआ छायावाद का कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्तिभाव प्रसाद में आनंदभाव निराला में अद्वैतभाव पन्त में आत्म रति और महादेवी में परोक्ष-रति के रूप में प्रकट हुआ।

शृंगारिकता

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की दूसरी अभिव्यक्ति है शृंगारिकता। छायावाद की कविता प्रधानतः शृंगारिक है क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठाओं से और व्यक्तिगत कुण्ठाएं प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। जिस समय छायावाद का जन्म हुआ उस समय स्वच्छंद विचारों के आदान से स्वतंत्र प्रेम के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था परन्तु सुधारयुग की कठोर नैतिकता से सहमकर वह अपने में ही कुण्ठित रह जाता था। समाज के चेतन मन पर नैतिक आतंक अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार की स्वच्छंद भावनाएं अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। निदान वे अवचेतन में उतरकर वहीं से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त होती रहती थी। और, यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौंदर्य अथवा अतीन्द्रिय शृंगार। छायावाद का यह अतीन्द्रिय शृंगार दो प्रकार

से व्यक्त होता है। एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा प्रकृति पर नारी-भाव के आरोप द्वारा। दूसरे नारी के अतीन्द्रिय सौंदर्य द्वारा अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौंदर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।

छायावाद में शृंगार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर, विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझकर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के अंगों के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतंक से सहमकर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद में कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिए हैं और वास्तव में छायावाद के झिलमिल काव्य चित्रों का मूल उद्गम ये ही झिलमिल पर्दे हैं। उसके वायवी रूप-रंग का वैभव इन्हीं से उत्कीर्ण होता है और इन्हीं पर आश्रित होने के कारण छायावाद की काव्य-सामग्री के अधिकांश प्रतीक काम प्रतीक हैं।

प्रकृति पर चेतना का आरोप

छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है। कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि छायावाद का प्राण-तत्त्व ही प्रकृति का मानवीकरण अर्थात् प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप है। यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपक वातावरण न मानकर ऐसी चेतन सत्ता माना गया है जो अनादिकाल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान प्रदान करती रही है। परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है क्योंकि वस्तुतः छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया-चित्र उठे उनका चित्रण है। जो प्रवृत्ति प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोपण करती है वह कोई स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं है वह मन की कुण्ठित वासना ही है जो अवचेतन में पहुँचकर सूक्ष्म रूप धारण करके प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा अपने को व्यक्त करती है। निदान प्रकृति का उपयोग यहाँ दो रूपों में हुआ है। एक कोलाहलमय जीवन से दूर शान्तिस्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक रूप में। जो ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता जो जीवन में नहीं मिल सके वह प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिले अतएव कवि की मनोकामनाएं बार-बार उसीके मधुर अंचल में भटकने लगीं और प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावतः उसीके प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रिय हुए।

मूल दर्शन

श्रीमति सुश्री महादेवी वर्मा ने कहा है, छायावाद का मूल-दर्शन सर्वात्मवाद

है—प्रकृति के अन्तर में प्राण चेतना की भावना करना सर्वात्मवाद की ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक ऋचाओं से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृति में स्पन्दित जीवन-चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है—सनातन से चली आ रही है। छायावाद में समस्त जड़-चेतन को मानव चेतना से स्पन्दित मानकर अंकित किया गया है और इस भावना को यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। परन्तु क्रम का भेद है। छायावाद का कवि आरम्भ से ही सर्वात्मवाद की अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ है। उसकी प्रेरणा उसकी कुंठित वासनाओं में से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं यह निर्विवाद है। इसे न मानना प्रत्यक्ष का निषेध करना है। और इसका प्रमाण यह है कि 'पल्लव' 'नीहार' 'परिमल' 'आंसू' आदि की मूलवर्ती वासना असंयत और सूक्ष्म तो अवश्य है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है।

आज के बुद्धिवादी कवि के लिए वासना को सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः संभव है परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति का होना उसके लिए सहज सम्भव नहीं है; और यह स्वीकार करने में किसीको भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि यत युद्ध के बाद जिन कवियों के हृदय से छायावाद की कविता उद्भूत हुई उनपर किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त उस अवस्था में तो कोई विशेष परिणति भी संभव नहीं थी। वह उन कवियों का तारुण्य था जब मन की सहज भावनाएं अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो रही थीं। बाद में प्रसाद या महादेवी भारतीय अध्यात्म दर्शन के सहारे, अथवा पंत देश-विदेश के दर्शनों के आधार पर, उसे परिपुष्ट एवं संस्कृत भले ही कर पाए हों परन्तु आरम्भ से कोई दिव्य प्रेरणा उन्हें थी यह मानना असत्य होगा।

अतएव प्रकृति पर मानवता का आरोप कम से कम आरम्भ में तो निश्चय ही अनुभूति का तत्त्व न होकर अभिव्यक्ति का प्रकार था। शृंगार और स्वच्छंदता की भावनाएं जिन्हें परिस्थिति के अनुरोध से प्रकृत रूप में अभिव्यक्त करना संभव नहीं था प्रकृति के रूपकों से अन्योक्ति आदि के द्वारा व्यक्त होती थीं। बस इसके अतिरिक्त उपर्युक्त प्रवृत्ति की कोई भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं। सर्वात्मवाद का बुद्धि द्वारा ग्रहण तो सहज सम्भव है परन्तु उसकी अनुभूति के लिए उस समय छायावाद के किसी भी कवि को चैलेंज किया जा सकता था। उस समय स्वच्छंद छायानुभूतियों से छायावाद का निर्माण हो रहा था जो एक विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट संस्कार के कवियों की जीवन के प्रति सहज प्रतिक्रिया थी प्रगतिवाद की तरह किसी ठोस अजनबी बौद्धिक जीवन-दर्शन से मन को टकरा-टकराकर भरण नहीं ली जा रही थी।

यही बात रहस्यानुभूति के विषय में कही जा सकती है। बहिरंग जीवन से सिमटकर जब कवि की चेतना ने अंतरंग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएं—जीवन और मरण-सम्बन्धी—काव्य में आ जाना सम्भव ही था और वे आई। कुछ आध्यात्मिक क्षण तो प्रत्येक भावुक के जीवन में आते ही हैं। अतएव छायावाद की रहस्योक्तियां एक प्रकार से जिज्ञासाएं ही हैं। वे धार्मिक साधना पर आश्रित न होकर कहीं भावना कहीं चिंतन और कहीं केवल मन की एषणा पर ही आश्रित हैं।

छायावाद के ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हीं में अभिन्न रूप से गुंथा हुआ आपको विषाद का नीला तन्तु भी मिलेगा जो असन्तोष और कुण्ठा का परिणाम है। परन्तु यह विषाद सन्ध्या की कालिमा न होकर प्रत्यूष की चित्रित नीहारिका है। इसमें घुमड़न है पराजय नहीं। 'नीरजा' के विषाद और 'निशा-निमन्त्रण' के विषाद की तुलना मेरे आशय को स्पष्ट कर देगी। इसका कारण यह है कि छायावाद की दुनिया अनुभूत दुनिया थी। बच्चन के समय तक आकर वह अधिक जीवन-गत (अनुभूत) हो चुकी थी। अतः छायावाद की निराशा भी अनुभूत होने के कारण श्रान्त और जर्जर नहीं हो गई थी वह स्पन्दित और स्फूर्त थी। छायावाद के चिर उपहसित पीड़ा प्रेम का यही व्याख्यान है।

भ्रान्तियां

छायावाद के विषय में तीन प्रकार की भ्रान्तियां हैं—

पहला भ्रम उन लोगों ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते। आरम्भ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा। उस समय के आलोचक इसी भ्रम का पोषण करते हुए उसे कोसते रहे। यद्यपि आज यह भ्रम प्रायः निर्मूल हो गया है तो भी छायावाद के कतिपय कवि और समर्थक छायावाद के सुकुमार शरीर पर से आध्यात्मिक चिंतन का मृग-चर्म उतारने को तैयार नहीं हैं। रामकुमारजी आज भी कबीर के योग की शब्दावली में अपने काव्य का व्याख्यान करते हैं। महादेवीजी की कविता के उपासक अब भी प्रकृति और पुरुष के रूपकों में उलझे बिना उसका महत्त्व समझने में असमर्थ हैं। यहां तक कि स्वयं महादेवीजी ने भी छायावाद के ऊपर सर्वात्मवाद का भारी बोझ लाद दिया है।

इसके विरोध में जैसा मैंने अभी कहा एक प्रबल प्रमाण यही है कि छायावाद एक बौद्धिक युग की सृष्टि है। उसका जन्म साधना से—यहां तक कि प्रगाढ़ आध्यात्मिक विश्वास से भी—नहीं हुआ। अतएव उसके रूपकों और प्रतीकों को यथातथ्य मानकर उन पर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है भ्रांतियों का पोषण करना है।

दूसरी भ्रान्ति उन आलोचकों की फैलाई हुई है जो भूत-वर्तिनी विशिष्ट

परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण—और उन अपराधियों में मैं भी हूं—केवल बाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है। परन्तु फिर भी यह कैसे भुला जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। यहां छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहां रोमांटिक काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त आवृत देशों में एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहां के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।

तीसरे भ्रम को जन्म दिया है आचार्य शुक्ल ने जो छायावाद को शैली का एक तत्त्व-मात्र मानते थे। उनका मत है कि विदेश के अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद आदि की भांति छायावादशैली का एक प्रकार-मात्र है।

इस भ्रम का कारण है शुक्लजी की वस्तु-परक दृष्टि, जो वस्तु और अभिव्यंजना में निश्चित अन्तर मानकर चलती थी। वास्तव में उन दो-चार इने-गिने सम्प्रदायों को छोड़कर, जो जान-बूझकर शैली-गत प्रयोगों को लेकर चले हैं कोई भी काव्यधारा केवल अभिव्यंजना का प्रकार नहीं हो सकती। जिन अभिव्यंजना या प्रतीकवाद का उन्होंने उल्लेख किया है वे भी शुद्ध टेकनीक के प्रयोग नहीं हैं उनके पीछे भी एक विशिष्ट अनुकूल भाव-धारा और विचार धारा है। प्रत्येक सच्ची काव्य-धारा के लिए अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा अनिवार्य है और जहां अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा है वहां काव्य टेकनीक-मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है? छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा असंदिग्ध है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव-पद्धति की विशिष्टता के ही कारण है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक-दूसरे प्रकार का उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।

इस दृष्टिकोण का आधेय नवजीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के सम्मिश्रण

से बना है प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति है, प्राय: प्रकृति के प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्त्वत: सर्वात्मवाद मानी जा सकती है। पर वहां से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।

यह तो स्पष्ट ही है कि छायावाद का काव्य प्रथम श्रेणी का विश्वकाव्य नहीं है—कुण्ठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती। प्रथम श्रेणी के काव्य की सृष्टि तो पारदर्शी कवि के द्वारा ही सम्भव है जिसके लिए यह जीवन और जगत् अनुभूत हों और जो सत्य को प्राप्त कर चुका हो। परन्तु यह सौभाग्य संसार में कितनों को प्राप्त है? इसके अतिरिक्त संसार का अधिकांश काव्य कुण्ठा-जात होता है। उसकी तीव्रता और वैभव-विलास का जन्म प्राय: कुण्ठा में ही तो होता है।

इस सीमा को स्वीकार कर लेने के उपरांत छायावाद को अधिक से अधिक गौरव दिया जा सकता है। और सच ही जिस कविता ने एक नवीन सौन्दर्य चेतना जगाकर एक बृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया जिसने उसकी वस्तु-मात्र पर अटक जानेवाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश करके सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल से तरल भाव-वीचियों को पकड़ सके जिसने जीवन की कुण्ठाओं को अनन्त रंग वाले स्वप्नों में गुम्फित किया जिसने भाषा को नवीन हाव भाव नवीन अश्रु हास और नवीन विभ्रम विलास प्रदान किये जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया-चित्रों से जगमग कर दिया और अन्त में जिसने 'कामायनी' का समृद्ध रूपक 'पल्लव' और 'गुञ्जन' की कला 'नीरजा' के अश्रु-गीले गीत 'परिमल' और 'अनामिका' की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।

प्रयोगवाद

यों तो प्रत्येक युग की ही कविता प्रयोगवादी होती है क्योंकि वह वस्तु और शैली दोनों में अपनी पूर्ववर्ती कविता से भिन्न प्रयोग करके ही अपने आविर्भाव की घोषणा करती है। परन्तु इन दिनों यह विशेषण आधुनिक कविता की एक प्रवृत्ति-विशेष के लिए प्रायः रूढ़-सा हो गया है। शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्त्व और रूप-आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असन्तोष-सा उत्पन्न हो गया था और धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और अतीव अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य-सामग्री एवं शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। निश्चयतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई—भाव-वस्तु में छायावाद की तरल-अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की माँग हुई—दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का जोर बढ़ा और शैली-शिल्प में छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल काव्य-सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त-सघन और नानारूपिणी काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का एक समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक् हो गए—एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि-कर्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाए रखा। उसने किसी राजनीतिक वाद की दासता स्वीकार नहीं की वरन् काव्य की वस्तु और शैली-शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा व्यापक, अनेक रूप मुखर, फिर प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों का पार्थक्य सर्वथा स्थिर और सीमाएँ,

रेखाएं एकान्त दृढ़ नहीं हैं। साहित्यिक वर्ग-विभाजन में यह कभी सम्भव ही नहीं होता—अनेक प्रगतिवादी शैली-शिल्प के प्रयोगों के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं उधर अनेक प्रयोगवादियों की भाव भूमिका पर एकान्तत: साम्यवाद का प्रभाव है। अन्तर केवल प्राथमिक उद्देश्य का है—पहला वर्ग जहां सामाजिक चेतना की जागृति को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानता है दूसरा अर्थात् प्रयोगवादी वर्ग वहां वस्तु और शैली दोनों में ही फिर प्रयोगशीलता को प्राथमिकता देता है।

प्रयोगवादी कविता का मूल तत्त्व स्वभावत: ही काव्य-विषयक प्रयोग अथवा अन्वेषण है। 'दावा केवल यही है कि ये सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है। × × × × बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं अभी राही हैं राहों के अन्वेषी। (प्रथम 'तार सप्तक' की भूमिका)। इस वर्ग के कवियों का विश्वास है कि जीवन की ही तरह काव्य भी एक चिर गतिशील सत्य है जिसकी वास्तविक साधना शोध अन्वेषण एवं प्रयोग है। अतएव वस्तु और शैली दोनों ही क्षेत्र में ये काव्य के पूर्ववर्ती उपादानों को सन्देह से देखते हैं और नवीन उपकरणों को आग्रहपूर्वक ग्रहण करते हैं। जीवन और काव्य दोनों में ही एकाधिकार के ये घोर विरोधी हैं। यह इनको सर्वथा अमान्य है कि किसी भी समय ऐसी अवस्था आ सकती है जब कि जीवन का सम्पूर्ण सत्य प्राप्त हो सकता है—और फिर उसकी पुनरावृत्ति शेष रह जाती है। यही बात काव्य पर भी लागू होती है। काव्य का परम तत्त्व प्रत्येक युग के लिए सदैव प्राप्य ही रहता है—अपने पूर्ववर्ती युग के प्राप्य पर कोई भी युग जीवित नहीं रह सकता।

प्रयोगवादी कविता का जन्म छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। अंग्रेज़ी साहित्य में भी प्रयोगवादी कविताओं में रोमानी प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह का एक तीखा स्वर मिलता है परन्तु वह व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है। हिन्दी में यह प्रतिक्रिया अधिक स्थिर और स्पष्ट है। भावक्षेत्र में छायावाद की अतीन्द्रियता और वायवी सौंदर्य-चेतना के विरुद्ध एक वस्तुगत मूर्त और ऐन्द्रिय चेतना का विकास हुआ और सौंदर्य की परिधि में केवल मसृण और मधुर के अतिरिक्त परुष अनगढ़ और भदेस का समावेश किया गया। वास्तव में नये कवि ने अतिशय कोमलता और मार्दव से ऊबकर अनगढ़ और भदेस को कुछ अधिक ही आग्रह के साथ ग्रहण किया

निरन्तर धँसती हुई छत, भाड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टांगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्य धन गदहा।

यहाँ तो केवल वस्तु में ही भदेसपन है क्योंकि इसका लेखक अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त परिमार्जन के कारण भाषा को भदेस नहीं बना पाया है। अन्तर्बाह्य भदेसपन के लिए डा० रामविलास और श्री केदार, या हंस में नित्यप्रति छपने वाली कविताएँ आदर्श हैं

सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग़ भुस का, लहर का ताल था।

(नागार्जुन—हंस)

अपने दृष्टिकोण की सफ़ाई में उसने कहा कि सौंदर्य को केवल मधुर-कोमल में सीमित कर देना अत्यन्त संकुचित दृष्टि का परिचायक है। सौन्दर्य-चेतना एक अत्यन्त व्यापक चेतना है और अवस्थात्मक भी जो परिस्थिति के अनुसार विकसित होती रहती है। जिस प्रकार मधुर-कोमल उसका एक रूप है उसी प्रकार अनगढ़ और परुष भी। आज के जीवन में अनगढ़ और भदेस हमारे अधिक निकट हैं इसलिए उनकी चेतना हमारे लिए अधिक वास्तविक और स्वाभाविक है।

आज का जीवन सर्वथा विशृंखलित और अव्यवस्थित है जीवन-मूल्यों की इतनी भयंकर अराजकता पहले शायद ही कभी सामने आई हो। राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक और दार्शनिक उलझनों ने मिलकर जीवन में अगणित गुत्थियाँ डाल दी हैं—जिनमें कि आज का विचारक फँसकर रह जाता है। इस प्रकार के राजनीतिक विप्लव तो पहले भी आए, परन्तु मानव चेतना पर उनका इतना सर्वव्यापी प्रभाव नहीं पड़ा। पर आज तो जैसे समाज और सभ्यता का आधार ही भंग हो गया है। इसका कारण यह है कि पहले तो राजनीति और संस्कृति प्रायः स्वतन्त्र थीं किन्तु आज वे एक-दूसरे में गुँथ गई हैं। राजनीतिक विप्लव ने भयंकर आध्यात्मिक विप्लव को जन्म दे दिया है विश्वास का सूत्र सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया है। और आज सबसे बड़ी दुर्घटना यही सर्वग्राही अविश्वास है। आज न अध्यात्म-दर्शन में विश्वास है, न भौतिक-दर्शन में। विज्ञान ने ईश्वर-विश्वास तो छीन लिया है—परन्तु वह अपने में विश्वास जमाने में असफल रहा है। समाज की प्राचीन व्यवस्था भंग हो गई है परन्तु नवीन व्यवस्था दूर तक दिखाई नहीं देती। राजनीति में हिंसा-अहिंसा प्रजातन्त्रवाद साम्यवाद सर्वाधिकारवाद का और अर्थनीति में पूँजीवाद और समाजवाद का दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि का और मनोविज्ञान में चेतन और अवचेतन अचेतन आदि का ऐसा कुहराम मचा हुआ है कि आज के मानव की चेतना एकान्त भ्रमित

और तमसाच्छन्न हो गई है। ऐसी अवस्था में किसी स्थिर रोमानी सौन्दर्य-बोध को ग्रहण कर सकना असम्भव है। यदि ऐसा किया जाता है तो वह वास्तविक और हार्दिक नहीं है—वह केवल काल्पनिक अथवा भावगत है। छायावादी सौंदर्य-बोध के विरुद्ध इन कवियों का यही प्रबल आक्षेप है—और वे उसके प्रतिकार स्वरूप आज के आच्छन्न जीवन के अनुकूल मकुल सौंदर्य-बोध को ही वास्तविक एवं हार्दिक आनन्द मानकर चलते हैं।

जीवन-मूल्यों की यह अव्यवस्था नवीन काव्य में अत्यन्त मुखर है। आध्यात्मिक, सामाजिक और साहित्यिक उपादानों में लघु-गुरु के अन्तर को यह कवि झटके के साथ अस्वीकार कर देता है—और सूर्य और मेंढक, चांदनी रात और कूड़ा मिश्रित कूड़े में गड़े हुए मछड़े, नूपुर-ध्वनि और चप्पल चटकना और खाली चाय की प्याली को साथ-साथ ग्रहण करता है

तू सुनता रहा मधुर नूपुर ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल।

(भारतभूषण)

कब तक मसाल मारता पैंडू मुझसे काट और पोलाके,
तक भुला जाता है धागे, उघड़ रहे सीने के टांके।
जीवन प्यासा हो तो हो, यह प्यार कभी जामों से खाली,
यह सब एक विराट व्यंग है, मैं हूं सब श्री चा की प्याली।

(माचवे)

यही है प्रयोगवादी कविता का वस्तु-परक दृष्टिकोण और पकड़ता है। प्रयोगवादी कवि का आग्रह है कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक से अधिक वस्तुगत बनाए वस्तु पर अपने मन का रंग न चढ़ाकर वस्तु की आन्तरिक मर्म-व्यंजना को अनुदित करे। आज के हिन्दी कवि के लिए यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है क्योंकि वह छायावाद की अतिशय भावपरकता में पला हुआ है। केवल बच्चन, शमशेर बहादुर सिंह और संभवतः अज्ञेय ही इसमें सफल हो सके हैं। कारण यह है कि छायावाद के विरुद्ध उत्कट चेतना रखते हुए भी इनमें अधिकांश कवि उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाए।

वास्तव में देखा जाए तो इन कवियों के लिए अपने व्यक्तित्व से बचना सम्भव ही नहीं है। इनमें से अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति एकान्त अन्तर्मुखी है और वे अपने मन की निविड़ता में उलझे हुए हैं—सबसे अधिक अज्ञेय। मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभाववश अवचेतन का अध्ययन इनकी कविता का मुख्य विषय है। अवचेतन की काम-कुण्ठाओं का प्रतीकों द्वारा यथातथ्य चित्रण भारत और गिरिजाकुमार में अत्यन्त स्पष्ट है और शेष अन्य कवि भी इससे मुक्त नहीं हैं। छायावाद में भी यह प्रवृत्ति अत्यधिक प्रबल थी। परन्तु दोनों की चेतना में काफी अन्तर है। छायावाद का कवि जहां अनजाने ही अपनी

कुण्ठाओं को काम-प्रतीकों द्वारा (प्रधानतः प्रकृति-प्रतीकों द्वारा) सहज रूप में व्यक्त करता था वहां प्रयोगवादी कवि के प्रतीक-विधान में अवचेतन-विज्ञान का यथेष्ट उपयोग रहता है। इस प्रकार इस कविता में व्यक्तित्व की निषिद्ध वासनाओं को वैज्ञानिक प्रतीकों द्वारा वस्तुगत रूप में अंकित करने का प्रयत्न रहता है, और एक ऐसी बौद्धिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जहां वस्तुपरक और व्यक्तिपरक दृष्टिकोण प्रतिद्वन्द्वी न रहकर साधक-साध्य बन जाते हैं। कवि अपने अवचेतन के अर्धव्यक्त अनुभव-खंडों को जो एकान्त व्यक्तिगत होते हैं, यथावत् वस्तु-रूप में अंकित करने का प्रयत्न करता है। यथावत् अंकन का यह प्रयत्न काव्य की बिम्ब ग्रहण पद्धति के विपरीत पड़ता है। इसमें विशेष की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का इतना उत्कट आग्रह रहता है कि कवि साधारणीकरण नहीं कर पाता—वरन् एक प्रकार से वह साधारणीकरण को अनावश्यक ही मानता है। वह अपने विशिष्ट अव्यवस्थित भाव-खंडों को उसी अव्यवस्थित रूप में प्रतीकों द्वारा अनूदित करने का प्रयत्न करता है। उसका अभीष्ट रहता है अवचेतन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति—अतएव वह निकटतम प्रतीकों का प्रयोग करता है। अवचेतन भाव-खंडों के पास पहुंचते पहुंचते ये प्रतीक स्वयं भी अर्धव्यक्त और निषिद्ध होते चले जाते हैं। परन्तु इसको वह सर्वथा स्वाभाविक एवं अनिवार्य मानता है क्योंकि उसका मत है कि अर्धव्यक्त की अभिव्यक्ति के लिए पूर्णव्यक्त प्रतीक अवांछित है। वे श्रोता या पाठक को अभिप्रेत भाव-खंड का संवेदन न कराकर उसके मन में किसी भिन्न भाव-खंड अथवा धारणा की उद्बुद्धि करते हैं। अतएव वह अर्धव्यक्त एवं असम्बद्ध प्रतीकों का यथेष्ट प्रयोग करता है और अपने इस प्रयत्न में मनोविश्लेषण शास्त्र की 'मुक्त-विचार प्रवाह' 'स्वप्न-चित्र' आदि पद्धतियों से प्रत्यक्ष सहायता ग्रहण करता है।

परिणामस्वरूप एक गहन बौद्धिकता इन कविताओं पर सीसे के पर्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रंगीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म तरल भावना-चिंतन के स्थान पर यहां ठोस बौद्धिक तत्त्व का बोझीलापन है परन्तु स्मरण रहे कि ये रचनाएं प्राचीन दार्शनिक अथवा चिन्तन-विचार-प्रधान कविताओं की परम्परा में नहीं आती। उदाहरण के लिए विनय-पत्रिका अथवा प्रसाद महादेवी आदि की दार्शनिक कविता और नवीन प्रयोगवादी कविता में कोई साम्य नहीं है। उन कविताओं में जहां दर्शन अथवा विचार को राग का विषय बनाया गया है वहां इन कविताओं में प्रायः रागात्मक तत्त्व को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया गया है। प्राचीन कविता में विचार और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक सम्बन्ध था पर इस कविता में विषय और काव्यानुभूति के बीच बुद्धिगत सम्बन्ध है। वास्तव में इस कविता का मुख्य उपादान-साधन बौद्धिक धारणाएं (Intellectual concepts) हैं जो प्रायः

विज्ञान राजनीतिशास्त्र मनोविज्ञान मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि की उपजीवी है।

यहाँ तक तो हुई भाव-वस्तु की बात। शैली-शिल्प के क्षेत्र में प्रयोगवाद का आग्रह और भी उत्कट है। "जो व्यक्ति का अनुभव है उसे समष्टि तक कैसे पहुँचाया जाय यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।" इस क्षेत्र में प्रथम विशेषता है भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग। प्रयोगवादी शब्द की प्रचलित अर्थव्यंजना को सामान्यतः ग्रहण करना पसन्द नहीं करता। अपने विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिए वह साधारण शब्दार्थ को असमर्थ पाता है इसलिए वह उसका विशिष्ट प्रयोग करता है—अर्थात् शब्द के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ उसमें भरना चाहता है। उसके मन में यह विश्वास बैठ गया है कि "साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ बन्द हो गई हैं। अतएव वह भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई केंचुल फाड़कर उसमें नया अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है। इसके लिए वह तरह-तरह के प्रयोग करता है एक तो विज्ञान दर्शन मनोविज्ञान मनोविश्लेषण-शास्त्र बाजार, गाँव गली-कूचे सभी जगह से शब्द एकत्र करता हुआ अपने शब्द भण्डार को व्यापक बनाता है; दूसरे शब्दों का विचित्र और सर्वथा असंगत प्रयोग करता है और तीसरे अपने अप्रस्तुत-विधान को अत्यन्त असाधारण रूप देने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त वह भाषा की व्यंजना और समास शक्ति पर इतना भार डालने की चेष्टा करता है कि वह अस्त-व्यस्त हो जाती है और उसकी अर्थ-व्यंजना जवाब दे देती है। अपने उस 'बड़े अर्थ' को पाठक के मन में उतार देने के लिए भाषा के साधन अपर्याप्त रहते हैं, विवश उसे इतर साधनों की शरण लेनी पड़ती है—"भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों छोटे-बड़े टाइप सीधे-उल्टे अक्षरों लोगों और स्थानों के नामों अधूरे वाक्यों" की शरण लेनी पड़ती है। या फिर वह विदेश के प्रभाववादी मूर्तिवादी आदि प्रयोगों का जाने-अनजाने में अनुकरण करता हुआ पाठक के सामने एक गोरखधन्धा उपस्थित कर देता है।

इसी प्रकार छन्द-विधान में भी इस क्षुब्ध-संकुल भाव-वस्तु और तदनुरूप अस्त-व्यस्त शब्द-सामग्री को वहन करने योग्य नए-नए प्रयोग अनिवार्य हो गए। पुराने वर्णिक और मात्रिक छन्दों की स्थिरता नए जीवन की अस्थिरता को वहन नहीं कर सकती। इसलिए प्रयोगवादी कवि प्रायः मुक्त छन्द को ही ग्रहण करता है और उनमें वर्णिक और मात्रिक छन्दों की भिन्न-भिन्न संयोजनाओं के अतिरिक्त परास और स्वर-पात आदि की भी व्यवस्था करता है। तुकों का वह अत्यन्त शून्य प्रयोग करता है पूर्णान्त तुकों का तो वह प्रायः प्रयोग ही नहीं करता क्योंकि उसकी धारणा है कि पूर्णान्त तुक छन्द-बंधों को

अतिशय भावमय बनाकर विषय की गम्भीरता के अनुरूप नहीं रहने देती। वह तुकान्त शब्दों का प्रयोग अन्त में न कर प्रायः पंक्ति के बीच में करता है—और उनके द्वारा लय को समृद्ध करता है। इसके अतिरिक्त अर्थ से स्वतन्त्र संगीत को भी वह अपने माध्यम के अनुकूल नहीं पाता और उसका सतर्कता से बहिष्कार करता है। अर्थ के ही अनुकूल उसके छन्द विधान में एक प्रकार की लयमयी शिथिलता रहती है जो केदार, शमशेरबहादुर सिंह जैसे कवियों में अत्यन्त जड़ और नीरस हो जाती है, अज्ञेय अपने शब्द चयन के बल पर उसकी लयमयता को तो अवश्य कम कर देते हैं परन्तु संगीत का समावेश वे भी नहीं कर पाते। संगीत और ध्वनि-सौन्दर्य की दृष्टि से गिरिजाकुमार की सफलता स्तुत्य है। वास्तव में नए कवियों में मधुर-कोमल स्वर-सौन्दर्य का व्यावहारिक ज्ञान इनको ही है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात जो अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है वह है इन कविताओं की दुरूहता। ये कविताएं अनिवार्य रूप से ही नहीं सिद्धांत रूप से भी दुरूह हैं। इस दुरूहता के अनेक कारण ऊपर दिए हुए हैं—जिनमें चार मुख्य हैं भावतत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत संबंध साधारणीकरण का त्याग उपचेतन मन के अनुभव-खंडों के यथावत् चित्रण का आग्रह तथा काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकांत वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग। इनके अतिरिक्त एक और भी कारण है और वह है इन सबका मूलवर्ती कारण—नूतनता का सर्वग्राही मोह जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है। ये कारण यदि आनुषंगिक होते तो इनको सफाई के रूप में ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु, इसके विपरीत ये सभी कारण सैद्धांतिक हैं। और, मेरा सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि ये कारण सैद्धांतिक हैं क्योंकि इनके आधारभूत सिद्धांत ही सदोष हैं और मनोविज्ञान तथा काव्यशास्त्र दोनों की कसौटियों पर ही खोटे उतरते हैं।

सबसे पहले भाव-तत्त्व और काव्यानुभूति के बुद्धिगत संबंध को लीजिए! काव्य के विषय में और चाहे कोई सिद्धांत निश्चित न हो परन्तु उसकी रागात्मकता असंदिग्ध है। इसे पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों ही काव्यशास्त्र निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार करते हैं। कविता मानव-मन का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करती है—यह एक चिरन्तन सत्य है और कविता की यही चरम सार्थकता है। समय-समय पर बुद्धि और राग में थोड़ी-बहुत प्रतियोगिता रही हो वह दूसरी बात है परन्तु कभी भी बुद्धि को राग के स्थान पर काव्य का प्राणतत्त्व होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जब कभी बुद्धि तत्त्व रागतत्त्व के ऊपर हावी हुआ है काव्यतत्त्व भी उसी अनुपात से क्षीण हो गया है। काव्य का यह मापदण्ड छोटे-बड़े सभी कवियों के विषय में लागू रहा

है। यदि तुलसी भिन्न प्रकार—जिस किसी कवि में भी बौद्धिक तत्त्व के प्रति पक्षपात दिखाते हुए राग की उपेक्षा की है, काव्य के पारखी ने तुरन्त ही उसके बुद्धि-वैभव की प्रशंसा करते हुए भी काव्य-गुण की हीनता का निर्णय दे दिया है। इसका विरोध करने का साहस टी० एस० इलियट में भी नहीं है। काव्य की सार्थकता इसीमें है कि वह राग को संवेदनीय बनाए, बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है। शास्त्र का साहित्य अथवा ललित साहित्य वस्तु के साहित्य से इसी बात में मूलतः भिन्न है। यह अन्तर जब तक काव्य का अस्तित्व है तब तक बना रहेगा। इसका तिरोभाव होने से काव्य के अस्तित्व पर ही आघात होता है। प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की खोज में इसी मूल सिद्धान्त का तिरस्कार कर काव्य के मर्म पर चोट की है और इसका परिणाम यह हुआ है कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है उसमें मन को स्पर्श अथवा चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं रही। दूसरे शब्दों में—उसमें रस का अभाव है। पहले तो उसका अर्थ ही हाथ नहीं पड़ता और यदि दिमाग को कुरेदकर उसका अर्थ निकाल भी लिया जाय तो पाठक के मन का प्रसादन नहीं होता और उसे एक प्रकार की खीझ-सी होती है।

प्रयोगवादी कवि का दूसरा आग्रह है उपचेतन की उलझी हुई संवेदनाओं का यथावत् चित्रण। यहाँ भी वह एक भयंकर मनोवैज्ञानिक त्रुटि करता है। अन्तश्चेतन अथवा उपचेतन की संवेदनाएँ प्रायः सभी उलझी होती हैं। कला या काव्य की सार्थकता ही यह है कि वह उस अन्तर को रूप देता है, उलझे हुए संवेदनों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। काव्य के सिद्धान्त में थोड़ा अति-वाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि सहृदयानुभूति के पूर्व अनुभव का स्वरूप साधारणों की गुत्थियों से भिन्न नहीं है। कवि में सहृदया-नुभूति की शक्ति जनसाधारण की अपेक्षा अधिक होती है—अतएव जनसाधारण जिन उलझे हुए संवेदनों का अनुभव भर करके रह जाता है, कवि उनकी सहृदया-नुभूति कर उन्हें रूप दे सकता है। यही मौलिक कवि-कर्म है और इसीलिए एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में कविता का उद्भव हुआ। परन्तु प्रयोग-वादी अपने मन की उलझी हुई संवेदनाओं को यथावत् अर्थात् उसी उलझे रूप में उपस्थित करने के लिए उलटे-सीधे प्रयत्न करता हुआ अभिव्यञ्जना के मूल सिद्धान्त का ही तिरस्कार करता है। वास्तव में उसके प्रयत्न की अनिवार्य अस-फलता ही उसके सिद्धान्त की असंगति का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

साधारणीकरण की पुरानी पद्धतियों के व्यर्थ हो जाने की बात भी काफी विचित्र है। प्रयोगवादी की शिकायत है कि साधारणीकरण की पुरानी पद्धतियाँ आज के जीवन की जटिल उलझनों का वहन करने में असमर्थ हैं। नई पद्ध-तियों की उद्भावना अभी नहीं हुई इसलिए कवि अपने अर्थात् व्यक्ति के अनु

भूत को सहृदय—समाज—का अनुभूत बनाने में असमर्थ रहता है। परन्तु यह बात नहीं है। कवि नवीन प्रयोगों की धुन में साधारणीकरण का या तो प्रयत्न ही नहीं करता या फिर ऐसा प्रयत्न करता है जिसमें साधारणीकरण के मूल सिद्धान्तों का ही निषेध रहता है। वास्तव में साधारणीकरण शैली का प्रयोग न होकर एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका मूल आधार है मानव-सुलभ सह-अनुभूति। इसमें सन्देह नहीं कि आज का जीवन विगत जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक उलझा और पेचीदा हो गया है और मानव-मन की प्रवृत्तियाँ भी उसी अनुपात से निबिड़ एवं जटिल हो गई हैं। फिर भी साधारणीकरण के सिद्धान्त में इससे कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि कवि के मन की निबिड़ता भी तो उसी अनुपात से बढ़ गई है। जिन परिस्थितियों ने कवि के मन को प्रभावित किया है उन्होंने सहृदय के मन पर भी प्रभाव डाला है। अतएव कवि और सहृदय के मानसिक धरातल में एक-सा परिवर्तन होने के कारण साधारणीकरण की स्थिति वैसी ही रहती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि साधारणीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता। वह विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत करने के बजाय विशेष रूप में ही प्रस्तुत करने का बेतुका प्रयत्न करता है। आखिर उसके और सहृदय के बीच मानसिक सम्पर्क स्थापित करने का माध्यम तो वही हो सकता है जो दोनों के लिए—साधारण हो। परन्तु वह इस साधारण को पुराना समझकर नए माध्यम की खोज में न जाने क्या-क्या चमत्कार दिखाता है। लेकिन वास्तव में यह सब कुछ नहीं है। यह कवि की सहजानुभूति की विफलता-मात्र है। उसने उलझन को एक प्रयोगवादी सिद्धान्त के रूप में ऐसे आग्रह के साथ स्वीकार कर लिया है कि वह उसमें एक प्रकार के गौरव का अनुभव करता है। एक तो उसकी संवेदनाएं ही इतनी उलझी हुई हैं कि उनकी सहजानुभूति अर्थात् उन्हें बिम्ब रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षाकृत कठिन है दूसरे वह उलझन को ही 'संवेदनीय' मान बैठा है। परिणाम यह होता है कि उसकी अभिव्यक्ति सर्वथा विफल रहती है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थितियों में इस विफलता का कारण कवि में सहजानुभूति की अक्षमता भी होती है। कवि की अनुभूति में ही इतनी शक्ति नहीं होती कि वह संवेद्य को बिम्ब रूप में ग्रहण और प्रस्तुत कर सके। सहजानुभूति को क्रोचे ने कल्पना का गुण माना है। परन्तु यह कल्पना भी सर्वथा अनुभूति ही पर आश्रित है। अतः सहजानुभूति के लिए अनुभूति-क्षमता सर्वथा अपेक्षणीय है। जब तक अनुभूति में शक्ति नहीं है कवि के मन में संवेदनों का बिम्ब बनाना सम्भव नहीं है। प्रयोगवादी कवि बुद्धि-व्यवसायी है अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है। परिणामतः वह सहजानुभूति में असमर्थ रहता है अर्थात् अपने संवेद्य को बिम्ब रूप में न तो वह ग्रहण कर सकता है—और न प्रस्तुत ही कर सकता है—और इसके बिना

काव्य-रचना सम्भव नहीं है।

अब रह जाता है भाषा का एकान्त वैयक्तिक प्रयोग जिसके अन्तर्गत शब्दों का मनमाना उपयोग, असाधारण प्रतीक-विधान आदि आते हैं। यह वास्तव में साधारणीकरण-विरोधी प्रवृत्ति का ही स्थूल रूप है और उसी की भाँति असंगत भी। भाषा एक सामाजिक साधन है। उसकी सार्थकता ही यह है कि वह व्यक्ति के मन्तव्य को समाज पर प्रकाशित कर सके। अतएव उसका प्रयोग सामाजिक ही हो सकता है, वैयक्तिक नहीं। शैली की वैयक्तिकता दूसरी बात है—शैली में शब्द-संयोजना, वाक्य-रचना, लक्षणा-व्यंजना आदि का उपयोग निश्चय ही व्यक्तिगत होता है, परन्तु शब्द को कोई मनमाना अर्थ देना, अथवा शब्दों की अस्त-व्यस्त संयोजनाओं द्वारा किसी अस्पष्ट अथवा असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराना, या अप्रचलित प्रतीकों द्वारा किसी सर्वथा अस्पष्ट अनुभव-खंड को अनूदित करना तो भाषा के मूल सिद्धान्त के ही प्रतिकूल है। साधारणतः तो पाठक आपके अभिप्राय को समझेगा नहीं, किन्तु यदि आपकी व्याख्याओं की सहायता से समझ भी जाय तो उस गोरखधंधे को सुलझाने का आनन्द मिल सकता है, काव्य का आनन्द नहीं मिल सकता। साधारण दुरूहता भी रस प्रतीति में बाधक होती है, लेकिन जहाँ प्रयत्न-पूर्वक दुरूहता के सभी साधन एकत्र किए गए हों वहाँ रस प्रतीति कैसी?

सारांश यह है कि जीवन की भाँति काव्य में भी नवीनता और प्रयोग का बड़ा महत्त्व है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मूल्यों का सन्तुलन बना रहे। जीवन के मूल तत्त्वों पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए अभिव्यक्ति पोषण और समृद्धि-विकास के निमित्त प्रयोग करना, उसका रूढ़ि और स्थविरता से बचाने के लिए नवीन रीतिविधि का अन्वेषण करना सार्थक और स्तुत्य है। परन्तु यदि [illegible]-मात्र से पर हो जाय और नवीनता की खोज अथवा नए प्रयोग साधन न रहकर साध्य बन जाएँ, उनको यदि जीवन के मूल तत्त्वों से अधिक महत्त्व दिया जाने लगे तो वे अपनी सार्थकता खो बैठते हैं और प्रायः बाधक बन जाते हैं। काव्य के विषय में भी ठीक यही बात है। काव्य के मूलतत्त्व रस-प्रतीति पर दृष्टि केन्द्रित रखकर, काव्य का परिशोध और रूढ़ि-ग्रास से मुक्त करने के लिए नए प्रयोग स्तुत्य हैं—वे काव्य के साधक हैं। परन्तु रस को उपेक्षित कर काव्य की कल्पना कर, निरन्तर बदले हुए उपादानों को स्वतन्त्र महत्त्व देना, उन्हें ही साध्य मान लेना इसकी सार्थकता-मात्र है—वास्तव में मूल्यों का अनुचित तथा अस्वाभाविक क्रम-विपर्यय है।

कामायनी में रूपक-तत्त्व

कामायनी के रूपक-तत्त्व की व्याख्या करने से पूर्व दो प्रश्नों का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है

१ रूपक से क्या अभिप्राय है ? और २ कामायनी रूपक है भी या नहीं ?

रूपक के हमारे साहित्य-शास्त्र में दो अर्थ हैं। एक तो साधारणतः समस्त दृश्य काव्य को रूपक कहते हैं दूसरे रूपक एक साम्य-मूलक अलंकार का नाम है जिसमें अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेद-आरोप रहता है। इन दोनों से भिन्न रूपक का तीसरा अर्थ भी है जो अपेक्षाकृत अधुनातन अर्थ है और इस नवीन अर्थ में रूपक अंग्रेजी के 'एलिगरी' का पर्याय है। 'एलिगरी' एक प्रकार के कथा-रूपक को कहते हैं। इस प्रकार की रचना में प्रायः एक द्वि-अर्थक कथा होती है जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा गूढ़ होता है। हमारे यहां इस प्रकार की रचना को प्रायः अन्योक्ति कहा जाता था। जायसी के पद्मावत के लिए आचार्य शुक्ल ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। रूपक के इस नवीन अर्थ में वास्तव में संस्कृत के रूपक और अन्योक्ति दोनों अलंकारों का योग है। इसमें जहां एक ओर साधारण अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ—गूढ़ार्थ—रहता है वहां अप्रस्तुत अर्थ का प्रस्तुत अर्थ पर श्लेष साम्य आदि के आधार पर अभेद-आरोप भी रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रूपक अलंकार में जहां प्रायः एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अभेद आरोप होता है वहां कथा रूपक में एक कथा का दूसरी पर अभेद आरोप होता है। यहां भी एक कथा प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत रहती है। प्रस्तुत कथा स्थूल भौतिक घटनामयी होती है और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म-सैद्धान्तिक होती है। यह सैद्धान्तिक कथा दार्शनिक नैतिक राजनीतिक सामाजिक वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिक आदि किसी प्रकार की हो सकती है। परन्तु इसका अस्तित्व मूर्त नहीं होता। वह प्रायः प्रस्तुत कथा का अन्य अर्थ ही होता है जो उससे ध्वनित होता है—किसी प्रबन्ध-काव्य की प्रासंगिक कथा की भांति जुड़ा हुआ नहीं होता।

इस प्रकार इस निर्दिष्ट अर्थ में रूपक से तात्पर्य एक ऐसी द्वि-अर्थक कथा से है जिसमें किसी सर्वांतिक अप्रस्तुतार्थ अथवा अन्यार्थ का प्रस्तुत अर्थ पर अभेद आरोप रहता है।

अतएव क्या कामायनी रूपक है? —इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह देखना है कि क्या कामायनी की कथा में प्रस्तुतार्थ के अतिरिक्त किसी सैद्धांतिक अप्रस्तुतार्थ की अन्तर्धारा भी वर्तमान है। इस प्रश्न के उत्तर का संकेत प्रसादजी ने स्वयं कामायनी के आमुख में दिया है।

"आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है। × × ×

यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। × × ×

यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। इन सभी के आधार पर कामायनी की सृष्टि हुई है।"

इसका अभिप्राय यह है कि कामायनी को कवि ने मूलतः एक ऐतिहासिक काव्य के रूप में ही लिखा है परन्तु इसकी कथा में रूपक की सम्भावनाएं निहित हैं और यदि इस रूपक भी मान लिया जाय तो कवि को वह अस्वीकार्य नहीं होगा। अर्थात् मूल रूप से नहीं तो गौण रूप से कामायनी में रूपक-तत्त्व निश्चित ही वर्तमान है। इसके अतिरिक्त कामायनी के पात्रों का प्रतीकमय सांकेतिक व्यक्तित्व तथा उसकी मुख्य घटनाओं का रूपक-गर्भित गूढ़ार्थ दोनों ही इस मत की पुष्टि करते हैं। अतएव कामायनी में रूपक-तत्त्व की स्थिति के विषय में संदेह नहीं किया जा सकता। वह निश्चय ही है और काफी स्पष्ट है।

कामायनी की व्यक्त कथा में आदिम पुरुष मनु और उसकी सहचरी आदिम नारी श्रद्धा के संयोग से मानव-सृष्टि के विकास का वर्णन है। अहंकार की कोलाहलमयी स्थिति से समरसता की आनन्दमयी स्थिति तक—मनोमय कोश से आनन्दमय कोश तक—उसका अप्रस्तुत पक्ष है। कथा का प्रस्तुत पक्ष ऐतिहासिक पौराणिक है और अप्रस्तुत पक्ष मनोवैज्ञानिक-मानसिक है—और इस प्रकार दोनों पक्षों में निकट सम्बन्ध है जो इस कथा की एक विशेषता है, अन्यथा रूपकों में साधारणतः इस तरह का निकट सम्बन्ध रहता नहीं है।

पहले पात्रों को लीजिए। कामायनी के प्रमुख पात्र हैं मनु, श्रद्धा और इड़ा। इनके अतिरिक्त अन्य पात्र हैं—मनु-श्रद्धा का पुत्र कुमार तथा असुर पुरोहित आकुलि और किलात। काम और लज्जा अशरीरी पात्र हैं। ये मूलतः ही सांकेतिक हैं। मनु, जैसाकि स्वयं प्रसादजी ने लिखा है, मन का—मनोमय कोश में स्थित जीव का—प्रतीक है। एक स्थान पर व्याकरण में मनु और मन को एक-रूप माना गया है। 'मन्यते अनेन इति मनुः'—जिसके द्वारा मनन किया जाए वह मन है वही मनु है। मन से अभिप्राय यहाँ चेतना (Consciousness) से है। उसका मूल लक्षण है अहंकार—'मैं हूँ' की भावना—जो अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों में अपनी अभिव्यक्ति करती रहती है। कामायनी के मनु के व्यक्तित्व का स्थायी आधार निस्संदेह यही अहंकार है

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा, मैं रहूँ
शाश्वत नभ के गानों में।
(आशा)

किन्तु सकल कृतियों की
सीमा हैं हम ही अपनी तो।
पूरी हो कामना हमारी
विफल प्रयास नहीं तो।
(कर्म)

यह जीवन का वरदान मुझे
दे दो रानी अपना दुलार।
केवल मेरी ही चिंता का
तव चित्त वहन कर सके भार।
यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व।

मननशीलता अर्थात् निरंतर संकल्प-विकल्प अहंकार के संचारी हैं। उपनिषदों में संकल्प-विकल्प को मन की प्रथा कहा गया है। प्रथम दर्शन के समय हमारा मनु के इसी मननशील संकल्प-विकल्पमय रूप से साक्षात्कार होता है। मनु के व्यक्तित्व में आदि से अंत तक भूत भविष्यत्, प्रकृति-परम तत्त्व आदि के चिंतन और तज्जन्य संकल्प-विकल्प का प्राधान्य है।

कामायनी की दूसरी प्रमुख पात्र है श्रद्धा। श्रद्धा प्रसादजी के अपने शब्दों

में हृदय की प्रतीक है। 'श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु !' (ऋग्वेद)। कामायनी में स्थान-स्थान पर उसके इस रूप की स्पष्ट प्रतिकृति मिलती है

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त।

वह गन्धर्वों के देश में हृदय-सत्ता का सुन्दर सत्य खोजने के लिए आती है। उसके व्यक्तित्व के मूल तत्त्व हैं एक ओर सहानुभूति दया ममता मधुरिमा त्याग तथा क्षमा और दूसरी ओर अगाध विश्वास उत्साह प्रेरणा स्फूर्ति आदि जो हृदय के कोमल और सबल पक्षों की विभूतियाँ हैं। शुक्लजी ने इसीलिए श्रद्धा को विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति कहा है। श्रद्धा को काम और रति की पुत्री माना गया है और वह इस संसृति में प्रेम-कला का सन्देश सुनाने के लिए अवतरित हुई है

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
उसका संदेश सुनाने को
संसृति में आई वह अमला।

तीसरी मुख्य पात्र है इड़ा जो स्पष्टतः बुद्धि की प्रतीक है। प्रसादजी ने स्पष्ट रूप से उसके व्यक्तित्व का प्रतीकात्मक चित्र अंकित किया है

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल
भरी ताल।

उपर्युक्त चित्र में बुद्धि के तर्क भौतिक ज्ञान-विज्ञान त्रिगुण आदि सभी तत्त्वों का अवयव रूप में समावेश कर दिया गया है। वैसे भी उसका चरित्र एकांत बौद्धिक है। वह हृदय की विभूतियों से वंचित व्यवसायात्मिका बुद्धि द्वारा अनुशासित है। जीवन की समरसता के स्थान पर वह वर्ग-विभाजन और अभेद के स्थान पर भेद की व्यवस्था करती है।

अब गौण पात्र रह जाते हैं सबसे पहले श्रद्धा-मनु का पुत्र कुमार आता है। उसका कोई विशेष व्यक्तित्व नहीं है—यहाँ तक कि उसका नामकरण संस्कार भी नहीं किया गया। वह नवमानव का प्रतीक है जो मनन क्रिया से मननशीलता माता से श्रद्धा अर्थात् हार्दिक गुण और इड़ा से बुद्धि ग्रहण कर पूर्ण मानवत्व को प्राप्त करता है। असुर-पुरोहित आकुलि और किलात आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। ज्यों ही मनु (मन) पाप (हिंसा-यज्ञ) की ओर आकृष्ट होता है आकुलि-किलात (आसुरी वृत्तियाँ) उसको दुष्प्रेरणा देने के लिए तुरन्त ही उपस्थित हो जाते हैं और उसे कुकर्म में प्रवृत्त करते हैं। फिर जब मनु के विरुद्ध विद्रोह होता है तो वे ही विद्रोहियों के नेता बनकर सामने आते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि आसुरी वृत्तियाँ पहले तो मन को पाप-कर्म में प्रवृत्त

करती हैं फिर जब उसे इसके लिए कष्ट भोगना पड़ता है तो ये आसुरी वृत्तियां उलटे उसके कष्ट में योग देती हैं।

इसके अतिरिक्त देव, श्रद्धा का पशु, और वृषभ तथा सोमलता के भी निश्चय ही सांकेतिक अर्थ हैं। देव इन्द्रियों के प्रतीक हैं। देवों की निर्बाध आत्म-तुष्टि का अर्थ है इन्द्रियों की निर्बाध तुष्टि

अरी उपेक्षा भरी अमरती!
री अतृप्ति! निर्बाध विलास!

श्रद्धा का पशु भी जिसका नाम तथा जाति आदि का वर्णन तक नहीं किया हुआ स्पष्टतः एक प्रतीक है। वह सहज जीव-दया करुणा—आधुनिक अर्थ में अहिंसा—का द्योतक है

एक माया आ रहा था पशु अतिथि के साथ
हो रहा था मोह करुणा से सजीव सनाथ।

वृषभ तो भारतीय अनुश्रुति में अनादि काल से धर्म का प्रतिनिधि माना जाता रहा है

था सोमलता से आवृत
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि।

सोमलता का सांकेतिक अर्थ है भोग। इस प्रकार सोमलता से आवृत वृषभ का अर्थ हुआ भोग-आवृत धर्म जिसका उत्सर्ग करके मानव चिरानन्दलीन हो जाता है।

अब तीन चार प्रतीक और रह जाते हैं। जल-प्लावन त्रिलोक और मान-सरोवर। जल-प्लावन भारत के ही नहीं पृथ्वी के इतिहास की अत्यन्त प्राचीन घटना है। हमारे दर्शन-साहित्य में इसको प्रतीक रूप में ग्रहण कर उसका सांकेतिक अर्थ भी लिया गया है। जब मन अबाध इन्द्रिय-लिप्सा का दास हो जाता है अर्थात् जब मन ऊपर विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष की ओर बढ़ने के स्थान पर निम्नतम अन्नमय कोष में ही रम जाता है तो चेतना पूर्णतः उस माया में डूब जाती है।

त्रिलोक में प्राचीन त्रिपुरदाह के रूपक से प्रेरणा ग्रहण की गई है और इसका प्रतीकार्थ अत्यन्त व्यक्त है। तीन लोक—भाव-लोक कर्म-लोक तथा ज्ञान लोक चेतना की तीन मूलभूत प्रवृत्तियों—भाव-वृत्ति कर्म वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति के प्रतीक हैं। जब तक ये तीनों वृत्तियां पृथक्-पृथक् कार्य करती हैं मन अशांत और उद्विग्न रहता है

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,

एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

परन्तु जब श्रद्धा के द्वारा इनका समन्वय हो जाता है तो मन समरसता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

मानसरोवर जिसे शतपथ ब्राह्मण में मनोरवसर्पण कहा गया है—

'तदप्यतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति'

—कैलाश शिखर पर वह स्थान है जहाँ मनु श्रद्धा की सहायता से पहुँचते हैं और अपनी मानसिक भ्रमण से मुक्ति पाते हैं। यह समरसता की अवस्था है मानसिक समन्वय की अवस्था जहाँ भाव कर्म और ज्ञान में पूर्ण सामञ्जस्य हो जाता है।

मानसरोवर या मानस (कामायनी में मानस शब्द का प्रयोग है) इसी सम रसता की अवस्था का प्रतीक है। यह मानस कैलाश शिखर पर स्थित है—कैलाश पर्वत आनन्दमय कोश का प्रतीक है।

कामायनी की प्रस्तुत कथा में मनु की कैलाश-स्थित मानसरोवर यात्रा का वर्णन है जहाँ पहुँचकर मनु के समस्त बन्धन दूर हो जाते हैं। रूपक को हटाकर यह मन का समरसता की अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न है जिसके उपरान्त मन के समस्त भौतिक और आध्यात्मिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं और वह पूर्णानन्द-लीन हो जाता है। पारिभाषिक शब्दावली में यह मनोमय कोश में स्थित जीव की आनन्दमय कोश में स्थित होने के लिए साधना है। यह आनन्द मय कोश हिमालय पर्वत का उच्चतम शिखर कैलाश है। कामायनी की रचना के समय यह धार्मिक रूपक स्पष्ट प्रसाद जी के मन में विद्यमान था।

अपने प्रस्तुत रूप में मनु एकान्त मननशील तथा अहंकारी हैं। वे अहंकारमय निष्क्रिय चिन्तन-मनन के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। ज्यों ही काम की प्रेरणा से काम और रति की पुत्री श्रद्धा से मनु का संयोग होता है उनमें जीवन के प्रति आकर्षण तथा स्फूर्ति का उदय होता है। श्रद्धा के साह चर्य से मनु के संस्कार का सम्पादन होता है—वह 'स्व' से 'पर' की ओर बढ़ता है। बीच बीच में उनका अहंकार उभरता है और आसुरी वृत्तियों से प्रेरित आकुलि-किलात की स्थापना से वे पशु यज्ञ कर आनन्द की प्राप्ति करते हैं। परन्तु श्रद्धा उसका तीव्र विरोध करती है और काम से कम कुछ समय के लिए उन्हें उसका दुर्निवार्य स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है। इस प्रकार

जब तक मनु श्रद्धा के प्रभाव में रहते हैं उनके अहं का संस्कार होता रहता है। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती मनु का अहंकार फिर प्रबल हो जाता है

यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में,
मैं रमण करूँ बन एक तत्व॥

और वे श्रद्धा से विरत होकर फिर अपने में खो जाते हैं। श्रद्धा से विमुख होने पर मनु की वृत्तियाँ पुनः अस्त-व्यस्त हो जाती हैं और वे जीवन-पथ पर भटकते हुए सारस्वत प्रदेश पहुँचते हैं। सारस्वत प्रदेश जीव के निम्नतर कोश—प्राणमय कोश का प्रतीक है। यहाँ उनका साक्षात्कार इड़ा से होता है जो उन्हें बुद्धिवाद की दीक्षा देकर भौतिक जीवन की ओर प्रेरित करती है

जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर नर किसकी शरण जाय ?

यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य-भरी शोधक-विहीन।
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता।

इड़ा के प्रभाव में मनु बुद्धि-बल से प्राकृतिक साधनों को एकत्र कर शासन व्यवस्था करते हैं—वर्ग-विभाजन होता है जीवन में भौतिक संघर्ष का सूत्रपात होता है। मनु इन सबके नियामक हैं परन्तु मनु का अहंकार इतने से संतुष्ट नहीं होता—इड़ा पर भी तो उनका अधिकार होना चाहिए। वे उसके लिए प्रयत्नशील होते हैं—परन्तु यहाँ उन्हें घोर विफलता होती है। इस अनधिकार चेष्टा से वे रुद्र के कोप-भाजन बनते हैं। एक बार फिर प्रलय का सा दृश्य उपस्थित हो जाता है मनु का विद्रोही प्रजा के साथ युद्ध होता है जिसमें मनु की पराजय होती है।

इसका संकेत-अर्थ यह हुआ कि मन अपने प्रकृत रूप में केवल मननशील तथा अहंकारी है। श्रद्धावान होकर ही और श्रद्धा का उदय मन में राग-वृत्ति के प्राधान्य के कारण ही सम्भव है उसका उचित दिशा में विकास-संस्कार होता है। श्रद्धा विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति का नाम है। 'श्रद्धा-समवेत' मन में अपने प्रति विश्वास और जीवन के प्रति राग का उदय होता है। यों समय-समय पर उसके आसुरी संस्कार निश्चय ही उभरेंगे—उसका सहज भोगवाद ऊपर आएगा परन्तु जब तक वह श्रद्धावान है तब तक इसपर नियंत्रण रहेगा और उसके अहं का संस्कार होता रहेगा। परन्तु ज्यों ही मन श्रद्धा का त्याग देगा वह नीचे प्राणमय कोश में पहुँच जायगा और बुद्धि के

चक्र में पड़ जाएगा। बुद्धि व्यवसायात्मिका वृत्ति है—वह उसको संघर्ष की निरंतर प्रेरणा तो दे सकती है परन्तु सुख नहीं दे सकती। अहंकार का संस्कार करने के स्थान पर वह उस ओर भी उत्तेजित करती है—अन्त में एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि मन बुद्धि पर पूर्ण एकाधिकार करने के लिए लालायित हो उठता है। यहां उसका पूर्ण पराभव होता है और एक प्रकार की मानसिक प्रलय हो जाती है।

इस पराभव के उपरांत मनु को बड़ी ग्लानि होती है। इतने में ही श्रद्धा के साथ उनका फिर संयोग होता है। श्रद्धा उन्हें ग्लानि और क्लेश का परित्याग कर फिर से कर्मशील होने के लिए उत्साहित करती है। इसी बीच में उनका साक्षात्कार इड़ा से होता है। वह पहले तो धनि-बुद्धिवादी होने के लिए इड़ा की भर्त्सना करती है—अन्त में उसे क्षमा कर अपने पुत्र कुमार को उसे सौंप देती है और आप मनु को साथ लेकर चल देती है। मनु और श्रद्धा दोनों हिमालय के शिखरों पर चढ़ते-चढ़ते एक ऐसे स्थान पर पहुंचते हैं जहां से त्रिदिक विश्व के तीन पृथक ज्योतिर्पिण्ड उन्हें दिखाई पड़ते हैं। श्रद्धा मनु को इनका रहस्य समझाती है—"ये तीन ज्योतिर्पिण्ड भाव-लोक, कर्म-लोक और ज्ञान-लोक हैं। इनके पार्थक्य के कारण संसार में विडम्बना फैली हुई है।" ऐसा कहते-कहते श्रद्धा की मुस्कान ज्योति रेखा बनकर इन तीनों लोकों में दौड़ जाती है—तीनों लोक मिलकर एक हो जाते हैं और बस फिर मनु के मन के बन्धन और विश्व की सारी विडम्बनाओं का अन्त हो जाता है। श्रद्धायुत मनु पूर्ण आनन्द-लीन हो जाते हैं।

इसका प्रतीकार्थ इस प्रकार है—बुद्धिवाद और अधिकार के अतिचार के फलस्वरूप मन का पूर्णतः पराभूत होना स्वाभाविक ही था। इससे मन को भयंकर ग्लानि और निर्वेद होता है और वह फिर जीवन से पलायन करता है। इस स्थिति से श्रद्धा ही उसका निस्तार करती है। श्रद्धा-संयुत मन फिर उचित दिशा की ओर विकासशील होता है और एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहां उसे आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। श्रद्धा की प्रेरणा से उसे अपने पराभव का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। वह अनुभव करता है कि उसकी विडम्बनाओं का एकमात्र रहस्य यह है कि उसकी तीनों मूल वृत्तियों में सामंजस्य नहीं है। उसकी भाव वृत्ति ज्ञान-वृत्ति और कर्म-वृत्ति (to feel, to know to will) तीनों ही एक-दूसरे से पृथक रहकर क्रियाशील हैं। ज्यों ही श्रद्धा के द्वारा इन तीनों का पूर्ण सामंजस्य हो जाता है मन समरसता की अवस्था प्राप्त कर पूर्णानन्द में लीन हो जाता है। यह आनन्द शैव योगी का आत्मानन्द है जो अपने भीतर आत्मसाक्षात्कार द्वारा प्राप्त होता है सगुण भक्त का आनन्द नहीं है जो चराचर में व्याप्त प्रभु के दर्शन कर प्राप्त होता है। श्रद्धा द्वारा

अपने पुत्र कुमार को इड़ा को सौंपना भी इसी सामञ्जस्य का प्रतीक है। मनु और श्रद्धा का आत्मज होने के कारण मानव जन्मतः मननशीलता और श्रद्धा से युक्त है। इड़ा का निरीक्षण उसके बुद्धि-तत्त्व को भी परिपक्व कर मानवत्व को पूर्ण कर देता है।

साधारणतः कथा का अन्त यहीं होना चाहिए था। परन्तु इस प्रकार इड़ा कुमार और सारस्वत-प्रदेश-वासियों की कहानी अधूरी ही रह जाती। अतएव उसके पर्यवसान-रूप में इड़ा कुमार और सारस्वत-प्रदेश-वासियों के भी मान सरोवर जाने का वर्णन किया गया है जहाँ वे सोम-लता से मंडित वृषभ का उत्सर्ग कर मनु से सामरस्य की दीक्षा लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मूल कथा से इस प्रसंग का सहज सम्बन्ध नहीं है परन्तु संकेत अर्थ इसका भी सर्वथा स्पष्ट है और वह यह है कि समष्टि-रूप में भी मानव-जीवन की परिणति आनन्द में ही है। सोम-लता अर्थात् भोग और वृषभ अर्थात् धर्म (कर्म) का उत्सर्ग कर समरस मानव चिरानन्द-मग्न हो जाता है।

इस प्रकार कामायनी निस्सन्देह ही रूपक है। प्रसाद जी ने कथा के मूल तत्त्वों को ऐतिहासिक मानते हुए उनके आधार पर ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना का उपक्रम किया था। किन्तु कथा का सांकेतिक रूप उनके मन में आरम्भ से अन्त तक वर्तमान था और मन के विकास का प्राचीन वैदिक रूपक उनको वैसे भी अत्यन्त प्रिय था।

परन्तु प्रसाद जी ने इसे सर्वथा प्राचीन रूप में ही ग्रहण नहीं किया। आधुनिक देश-काल का प्रभाव भी उसपर अत्यन्त व्यक्त है। मनु के जीवन की विडम्बना आधुनिक जीवन की विडम्बना है। इस विडम्बना का मूल कारण यह है कि आज हमारी भाव-वृत्ति अर्थात् संस्कृति जिसमें धर्म नैतिकता और कला-साहित्य आदि आते हैं कर्म-वृत्ति अर्थात् राजनीति जिसके अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्था आदि भी समाविष्ट है और ज्ञान-वृत्ति अर्थात् दर्शन-विज्ञान तीनों एक-दूसरे से पृथक हैं। उनमें सामंजस्य न होने से जीवन आन्तरिक और बाह्य संघर्षों और विषमताओं से आक्रान्त है। व्यक्तिवादी मनु आधुनिक जीवन के व्यक्ति-परक भौतिक सुखवाद का प्रतीक है जिसका व्यक्त रूप पूँजीवाद में मिलता है। वह इड़ा अर्थात् विज्ञान की सहायता से जीवन के सम्पूर्ण सुखों को अपने में केन्द्रित करने का असफल प्रयत्न करता है। अन्त में वह अनुभव करता है कि श्रद्धा के बिना जीवन की विडम्बना का अन्त नहीं। यह श्रद्धा अर्थात् रागात्मक वृत्ति गांधी जी की अहिंसा और पाश्चात्य दार्शनिकों की मानव भावना की पर्याय है। आज इसी मानव भावना की प्रेरणा से इच्छा ज्ञान क्रिया अथवा संस्कृति विज्ञान और राजनीति में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। जब इन तीनों के बीच मानव भावना की सद्प्रेरणा रहेगी तो इनका समन्वय स्वत

ही हो जाएगा। आज के पूँजीवाद से पीड़ित समाज की विषमताओं का समाधान यही मानववाद है जिसका भौतिक रूप समाजवाद और आध्यात्मिक रूप गांधीवाद है।

आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के आचार्यों ने भी आज की विषमताओं का यही समाधान बताया है। उनका निदान यह है कि इस युग का मानव अनेक प्रकार के सामाजिक-ऐतिहासिक तथा व्यक्त-अव्यक्त कारणों से स्वरति की भावना से आक्रान्त है। स्वरति भयंकर रोग है जिसके कारण उसका मानसिक स्वास्थ्य सर्वथा नष्ट हो गया है। मानसिक स्वास्थ्य मन की भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति के समन्वय का नाम है। इसलिए मानसिक स्वास्थ्य के नष्ट होने का अर्थ यह है कि ये तीनों वृत्तियाँ पृथक् दिशाओं में क्रियाएं कर रही हैं। इस सामंजस्य को पुनः प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि रति भावना को 'स्व' से निकालकर 'पर' की ओर प्रेरित किया जाए। यह उन्नयन प्रक्रिया है। इसके पूर्ण हो जाने पर मन समरसता की अवस्था (Mental equilibrium) को प्राप्त कर लेता है। आज के मानव-जीवन की समस्या का यही समाधान है।

एक प्रश्न और रह जाता है। यह रूपक कहाँ तक संगत है? जो जहाँ तक कि मूल कथा का सम्बन्ध है रूपक सामान्यतः संगत और स्पष्ट है उसमें कोई विशेष सैद्धान्तिक असंगति नहीं है। हाँ कथा के सूक्ष्म अवयवों में संगति पूरी तरह नहीं बैठती। जब मनु मानव-मन अथवा मनोमय कोश में स्थित जीव का प्रतीक है तो उनके पुत्र कुमार को नव मानव का प्रतिनिधि मानकर भी संगति नहीं बैठती क्योंकि इस तरह पिता-पुत्र में लगभग एक ही प्रतीकार्थ की पुनरावृत्ति हो जाती है। प्रसाद जी ने इस असंगति का अनुभव किया था इसलिए आनन्द-लोक की यात्रा पर जाने से पूर्व श्रद्धा कुमार को छोड़ जाती है। इसी प्रकार सारस्वत प्रदेश-वासियों के साथ इड़ा और कुमार का चिरानन्द-लीन मनु के पास वृषभ आदि का उत्सर्ग करने के लिए जाना भी प्रतीकार्थ में एक पैबन्द लगा ही है। इसकी सफ़ाई में दो कारण दिए जा सकते हैं। एक कारण तो यह है कि प्रस्तुत कथा को पूरी तरह अप्रस्तुतार्थ में जकड़ देना ठीक नहीं है—आखिर प्रस्तुत कथा को थोड़ा-सा तो स्वतन्त्र अवकाश देना ही चाहिए। दूसरा यह है कि कामायनी की कथा का विकास ही असंगतियों से भरा हुआ है उसमें हो काफी जोड़ लगे हुए हैं। अतएव उपर्युक्त असंगतियों का सम्बन्ध मूल-पुष्ट कथा की असंगतियों से भी है। इसके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने दो तात्त्विक असंगतियों की ओर संकेत किया है। एक तो यह कि जब इड़ा की प्रेरणा से ही मनु कर्म-विस्तार करते हैं अर्थात् जब बुद्धि ही कर्म-व्यापार का कारण है तो ज्ञान-लोक से पृथक् कर्म-लोक का अस्तित्व किस प्रकार संगत

हो सकता है ? दूसरे रति और काम की दुहिता तथा मानव-करुणा सहानुभूति आदि की समानार्थी होने के कारण श्रद्धा की स्थिति शुद्ध भाव की स्थिति है—उसका अस्तित्व एकान्त भावात्मक है। ऐसी परिस्थिति में उसकी स्थिति भाव-लोक से ही नहीं वरन् भाव कर्म ज्ञान तीनों से ही परे कैसे हो सकती है ? इनमें से पहली आपत्ति तो अधिक संगत नहीं है। वैसे तो मानव-मन इतना जटिल है कि उसकी सभी वृत्तियां परस्पर अनुस्यूत और गुम्फित है, फिर भी दर्शन तथा मनोविज्ञान में इच्छा ज्ञान और क्रिया का भेद तो सर्वथा स्वीकृत है ही। भारतीय दर्शन में भक्ति ज्ञान और कर्म मार्ग का पृथक विवेचन प्रायः आरम्भ से ही होता आया है। इसलिए कर्म के पीछे बुद्धि की प्रेरणा होने का यह अभिप्राय नहीं है कि इन दोनों में कोई तत्त्वगत पार्थक्य ही नहीं है।

श्रद्धा विषयक आपत्ति अधिक गम्भीर है। साधारण दृष्टि से निस्संदेह ही श्रद्धा एक भाव है और भाव ज्ञान और क्रिया के पृथक वर्णन के समय भाव से भिन्न उसका अस्तित्व वास्तव में समझ में नहीं आता। परन्तु प्रसाद जी ने कामायनी की सम्पूर्ण कथा की धुरी श्रद्धा को ही बनाया है। श्रद्धा का अर्थ है आस्तिक बुद्धि (भावना) 'आस्तिक्य-बुद्धि इति श्रद्धा'। आस्तिकता का अर्थ है अस्तित्व में सहज आस्था इस प्रकार आस्तिक-भावना जीवन की एकान्त मूल गत भावना है। इसीके द्वारा जीवन का संचालन होता है। प्रसाद जी ने इस इसी रूप में ग्रहण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद की श्रद्धा में राग-तत्त्व की अत्यन्त प्रधानता है परन्तु यह स्वाभाविक है। अस्तित्व में सहज आस्था स्वभावतः ही राग-प्रधान होनी चाहिए जीवन के प्रति सहज आस्था निस्सन्देह ही रागमयी होनी चाहिए। परन्तु फिर भी तत्त्व-रूप में श्रद्धा कोरी भावुकता नहीं है। आस्तिक बुद्धि की पर्याय होने के कारण उसमें अस्तित्व की तीनों अभिव्यक्तियों इच्छा ज्ञान क्रिया का स्थिति है। प्रसाद जी ने भी श्रद्धा को कोरी भावुकता के प्रतीक-रूप में चित्रित नहीं किया—वह वास्तव में जीवन की प्रेरणा की प्रतीक है। इसके विपरीत भाव-लोक कोरी भावुकता—इच्छा की रंगीन क्रीड़ाओं—का प्रतीक है और स्पष्ट शब्दों में—भाव-लोक केवल इच्छा का प्रतीक है और श्रद्धा जीवन के अस्तित्व में आस्था अर्थात् विश्वासयुक्त जीवनेच्छा है।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल।

× × ×

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।
× × ×
एक तुम यह विस्तृत भू-खंड
प्रकृति वैभव से भरा अमंद,
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द।

पूर्व तथा पश्चिम के धर्म-शास्त्रों तथा दर्शनों में भी श्रद्धा की यही स्थिति स्वीकार की गई है। धर्म अर्थ काम मोक्ष सभी के लिए श्रद्धा (प्रेम) को आधारभूत वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। उसके बिना मोक्ष (परमानन्द) की प्राप्ति सम्भव नहीं है। मनोविश्लेषण-शास्त्र के अनुसार श्रद्धा की स्थिति वही है जो युंग-प्रतिपादित जीवन चेतना की, जिसे कि उन्होंने जीवन की मूलभूत वृत्ति माना है। स्वभावतः ही वह राग-वृत्ति (लिबिडो) से अधिक व्यापक है।

इसके अतिरिक्त वस्तु रचना की दृष्टि से भी श्रद्धा की स्थिति का तीनों से स्वतन्त्र होना आवश्यक था। कामायनी की कथा का कार्य है त्रिपुर का दर्शन करना जिसके उपरान्त मनु को आनन्द-लोक की प्राप्ति होती है अर्थात् कथा वस्तु के उद्देश्य की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अप्रस्तुत कथा का कार्य है भाव-वृत्ति कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति का समन्वय। इसके उपरान्त ही मन समरसता की स्थिति प्राप्त कर चिदानन्द-लीन हो जाता है और कथा का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। वस्तु-शोधन की दृष्टि से यह कार्य मुख्य पात्र के द्वारा ही सम्पादित होना चाहिए और मुख्य पात्र स्पष्टतः कामायनी अर्थात् श्रद्धा है। इस प्रकार शुक्ल जी की इस दूसरी गम्भीर आपत्ति का भी निराकरण असम्भव नहीं है और इसमें सन्देह नहीं, प्रसाद जी ने श्रद्धा की मनोवैज्ञानिक स्थिति को इन आपत्ति-असंगतियों पर पूर्णतः विचार करने के उपरान्त ही उसको यह रूप दिया था। शुक्ल जी द्वारा उठाई गई शंका उनके मन में न उठी हो यह बात नहीं मानी जा सकती।

कामायनी का महाकाव्यत्व

ज्यों ही मैं कामायनी का मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होता हूं मुझे लांजाइनस की यह प्रसिद्ध उक्ति अनायास ही याद आ जाती है—

'महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है। क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है और औदात्य में कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रह जाते हैं।' (काव्य में उदात्त तत्त्व पृष्ठ ६६)

कामायनी के शिल्प-विधान में निश्चय ही अनेक छिद्र रह गए हैं—उसका वास्तु-शिल्प अपनी पूर्णता को नहीं पहुंच सका; उसकी आधारभूत प्रकल्पना में जो भव्यता है, उसका प्रतिफलन वस्तु-विन्यास में नहीं हो पाया—सर्गों की समन्विति कई जगह टूट गई है; अभिव्यंजना में अनेक त्रुटियां रह गई हैं जो व्याकरण और काव्य-शास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं; कुछ बिम्ब अधूरे रह गए हैं—अलंकार छिन्न-भिन्न हो गए हैं; शब्दों के फूलों की क्यारी में पंत के कोमल स्पर्श की झाड़-संवार नहीं है; कहानी में मैथिलीशरण गुप्त की प्रबंध कला की गठन और प्रवाह नहीं है—आदि-आदि। उसके दोषों की अन्वेषणा आज कुछ अधिक व्यग्रता से की जा रही है। आलोचक उसके गौरव के प्रति जितना आकृष्ट हो रहा है आज का स्रष्टा कलाकार उसकी अपूर्णता के प्रति उतना ही आग्रहशील हो उठा है। इस प्रकार कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक विवादास्पद और विवादों के रहते हुए भी कदाचित् सबसे महान् उपलब्धि है।

कामायनी की रचना प्रसाद ने महाकाव्य के रूप में की है। आमुख में मनु-श्रद्धा की कथा के ऐतिह्य रूप को सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो उत्कट आग्रह व्यक्त किया है उसका मुख्य प्रयोजन यही है। अतः महाकाव्य के रूप में ही कामायनी का मूल्यांकन करना कवि के मौलिक उद्देश्य के अधिक निकट होगा। स्वदेश विदेश के काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों की गणना प्रस्तुत संदर्भ में कदाचित् अधिक सार्थक न होगी। इसलिए मैं महाकाव्य के उन्हीं

मूल तत्त्वों का प्रकार पर्याप्त या दशवाश अपेक्षित नहीं है जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और जिनके सद्भाव में परम्परागत शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी किसी कृति का महाकाव्य के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता। ये मूल तत्त्व हैं—१ उदात्त कथानक, २ उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य ३ उदात्त चरित्र ४ उदात्त भाव और ५ उदात्त शैली। अर्थात् औदात्त्य ही महाकाव्य का प्राण है। किन्तु इस विषय में कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि औदात्त्य और माधुर्य में किसी प्रकार का प्रकट या प्रच्छन्न विरोध है। इस भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए मैं आधुनिक आलोचक ए० सी० ब्रैडले के औदात्त्य-सम्बन्धी प्रसिद्ध लेख की ओर इंगित करूँगा जिसमें उन्होंने उदात्त को सौन्दर्यशास्त्र का शब्द मानते हुए उसे व्यापक अर्थ में सौन्दर्य का ही एक रूप माना है। उनके अनुसार व्यापक सुन्दर के पाँच भेद किए जा सकते हैं—उदात्त, भव्य, मधुर, मनोरम और ललित। इनमें एक कोटि है उदात्त और अपर कोटि है ललित। अतः सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से ललित और उदात्त में भी कोई विरोध नहीं है—मधुर की स्थिति तो उदात्त के और भी अधिक निकट है। भारतीय दर्शन में शिव की कल्पना और भारतीय काव्यशास्त्र में धीरोदात्त नायक की कल्पना ब्रैडले के मत का मंडन तथा उपर्युक्त विरोध का खंडन करती है। कामायनी के महाकाव्यत्व का मूल्यांकन करने से पहले इस भ्रान्ति का निराकरण आवश्यक है।

उदात्त कथानक

कथानक का अर्थ है घटनाओं का समन्वय। अतः उदात्त या महान् कथानक का अर्थ हुआ महान् घटनाओं का समन्वय। घटना की महत्ता का आधार है उसका प्रबल प्रभाव तथा देशकाल में विस्तार। इस प्रकार महाकाव्य के कथानक का निर्माण ऐसी घटनाओं से होता है जिनका प्रभाव प्रबल एवं व्यापक हो और देश तथा काल दोनों में जिनका विस्तार हो। इसके साथ ही उदात्त कथानक के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका स्वरूप ध्वंसात्मक अथवा अन्त में ध्वंसात्मक न होकर रचनात्मक हो—उसकी परिणति शुभ और मंगलमयी हो। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि कामायनी की घटनाएँ अत्यन्त उदात्त एवं महान् हैं। किन्तु, उनका क्षेत्र बाह्य नहीं है आन्तरिक है—मानव-आत्मा या मानव चेतना है। परम्परागत महाकाव्यों की कथावस्तु घटनाओं—युद्ध आदि—की भांति उनका विस्तार भौतिक जगत् में घटित नहीं होता—उनका विस्तार होता है मानव-चेतना के भीतर और अन्त में परिणत होकर वे समस्त मानव-जीवन पर व्यापक और स्थायी प्रभाव डालती हैं। कामायनी की प्रमुख घटनाएँ हैं स्वार्थपूर्ण अहंकार का पराभव

पुरुष और नारी का प्रथम मिलन, नारी का सर्वस्व-समर्पण, पुरुष और नारी के प्रणयपूर्ण संसर्ग से सृष्टि-विकास, पुरुष की अबाधित अधिकार भावना—उसके लिए बुद्धि-बल से भौतिक संघर्ष और अधिकार-क्षेत्र का प्रसार, अतिचार एवं इड़ा, बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने का उद्दाम प्रयत्न और उसके परिणामस्वरूप मानव चेतना की पूर्ण विफलता, इस विफलता के मूल कारण की अवगति और अंत में सामरस्य तथा उसके फलस्वरूप पूर्णानन्द की सिद्धि। मानव के अविमानसिक जीवन में इन सभी घटनाओं का महत्त्व अक्षुण्ण है। विश्व में होने वाली प्रबल घटनाएं नाश और निर्माण के समस्त दृश्य, भौतिक संघर्ष और विकास के विभिन्न रूप इन्हीं घटनाओं के प्रतिबिंब हैं। अवचेतन मनोजगत् के उद्घाटन और तत्संबंधी अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गया है कि भौतिक जगत् का विराट घटनाचक्र मानव चेतना के अतल गह्वरों में होने वाले घटना चक्र की छायामात्र है। कामायनी के कवि ने इस रहस्य को समझा है और वर्तमान युग की वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग करते हुए अपने महाकाव्य में इसका प्रतिफलन किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि कामायनी की घटनाओं में निश्चय ही महाकाव्योचित प्रबलता और आयाम है, किन्तु यह प्रबलता और आयाम आधिभौतिक अर्थात् बाह्य एवं ऐहिक नहीं है—चेतनागत तथा आध्यात्मिक है।

उपर्युक्त व्याख्या का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि कामायनी की घटनाओं में भौतिक जगत् की सघनता का सर्वथा अभाव है। जहां कथा का विकास भूत जगत् की पृष्ठभूमि में होता है वहां परम्परागत महाकाव्य की घटनाओं की सघनता एवं विस्तार भी यथावत् विद्यमान है—उदाहरण के लिए प्रारंभिक सर्ग में देवदम्भ और प्रलय के वर्णन अथवा 'संघर्ष' सर्ग में सारस्वत नगर के वैभव के बीच प्रजा के साथ मनु के द्वन्द्व का चित्रण प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी कामायनी के कथानक की गरिमा इन प्रसंगों में उतनी नहीं है जितनी कि मनु (मानव) के अहंकार के विस्तार में अथवा बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने के लिए मानव-चेतना के निर्बाध प्रयास में अथवा आत्मा की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक त्रिकोण के दर्शन से मानव चेतना द्वारा सामरस्य की सिद्धि में। बाह्य दृष्टि से देखने पर ये घटनाएं अपनी अमूर्तता के कारण अनाकर्षक प्रतीत होती हैं किन्तु वर्तमान युग में जिस प्रकार मानव चेतना बुद्धि पर अबाध अधिकार प्राप्त करने का दुर्दम प्रयास कर रही है उसे देखते हुए इससे प्रबलतर घटना की कल्पना करना संभव नहीं है।

सामासिक रूप से विचार करने पर भी कामायनी के कथानक में अपूर्व आयाम है। यह केवल एक महापुरुष की जीवन-गाथा नहीं है, एक राजवंश का वृत्तवर्णन-मात्र नहीं है, एक युग या राष्ट्र की कथा नहीं है। यह तो संपूर्ण

मानवता के विकास की गाथा है—मनु से इति तक। अन्य महाकाव्य जहाँ मानव सभ्यता के खंड-चित्र प्रस्तुत कर रह जाते हैं वहाँ कामायनीकार ने उसका समग्र चित्र प्रस्तुत करने का साहसपूर्ण प्रयास किया है। यह प्रयास पूरा नहीं हुआ किन्तु इसका परिधि-विस्तार इतना अधिक है कि अपनी अपूर्णता में भी यह अद्भुत है—असामान्य है।

उदात्त कार्य

कामायनी का कार्य है भावभूमि कर्मभूमि तथा ज्ञानभूमि के सामंजस्य द्वारा समरसता और उसके फलस्वरूप आनंद की सिद्धि। कवि ने इस कार्य की सिद्धि के लिए त्रिपुर के प्रतीक की उद्भावना कर अत्यन्त कौशलपूर्वक उसे दिगन्त-विस्तार प्रदान कर दिया है। आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है इच्छा क्रिया और ज्ञान की विशृंखलता। मानव चेतना के इतिहास में जब-जब इन तीनों में असामंजस्य हुआ है जीवन विकास अवरुद्ध हो गया है—संसार में अराजकता और अशान्ति फैल गई है। आज के भौतिक जीवन का भी सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि हमारे मन और संस्कृति की दिशा एक है राजनीति की दूसरी और विज्ञान की तीसरी—अर्थात् भाव क्रिया और ज्ञान ये सब प्रतिकूल एक-दूसरे से असम्बद्ध हैं। इसका परिणाम है वर्तमान अशान्ति—जो वास्तविक युद्ध अथवा शीत-युद्ध आदि के रूप में व्यक्त हो रही है। इस भीषण समस्या का समाधान है मानवता के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए जीवन की इन तीनों प्रवृत्तियों में ऐकात्म्य स्थापित करना। ज्योंही मानव-कल्याण को लक्ष्य बनाकर हमारी संस्कृति हमारी राजनीति और हमारा विज्ञान एकात्मित हो जायेंगे तुरंत ही इस युग की विषम समस्या का समाधान हो जायगा। इस प्रकार कामायनी में वर्तमान के आधार-फलक पर प्रसाद ने मानव-जीवन की इस मूल समस्या का चिरंतन समाधान प्रस्तुत किया है जो सामयिक होकर भी शाश्वत है। सामयिक तथा सार्वकालिक और स्वदेशीय तथा सर्वदेशीय का यह एकीकरण महाकाव्य का प्रधान लक्षण है और इस लक्षण का निर्वाह जिस भव्य रूप में कामायनी में सम्पन्न हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं। इस प्रकार कामायनी का कार्य सर्वथा उदात्त है। ऐसी गरिमा और ऐसा विराट् आयाम और किस महाकाव्य के कार्य में है?

उदात्त भाव

कामायनी का मूलवर्ती भाव अथवा महाभाव जो जिसे काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'अंगीरस' कहा गया है अपने अभिप्राय के अनुरूप ही है। समष्टि रूप से उसमें विभिन्न रसों का परिपाक है। श्रद्धा मनु के प्रसंग में संयोग वियोगमय शृंगार, श्रद्धा और कुमार के प्रसंग में वात्सल्य, प्रमाद के वर्णन में

भयानक, देवताओं के प्रलय में करुण, संघर्ष तथा रुद्रकोप में वीर एवं रौद्र, शिवताण्डव के वर्णन और 'रहस्य' सर्ग में अद्भुत का प्रसार, पशु की हत्या में बीभत्स, आरम्भ तथा मध्य में निर्वेदमूलक शान्त और अन्त में आनंदपूर्ण साम रस्य में भी शान्त रस का भव्य विकास है। परन्तु इनमें से किसी भी एक को औरों का तो प्रश्न ही नहीं—काव्यशास्त्रीय अर्थ में शान्त या शृंगार को भी कामायनी का महारस मानना कठिन है। उसके पूर्वार्द्ध में शृंगार का प्राधान्य है तथा उत्तरार्द्ध में शान्त का। और, इन दोनों रसों का ही इतना प्रबल परिपाक हुआ है कि किसी एक को अंगीरस मानना कठिन है—वस्तुतः प्रसाद ने ऐसा किया भी नहीं है। सीमित काव्यशास्त्रीय अर्थ में प्रसाद ने न शृंगार को और न शान्त को कामायनी का अंगीरस बनाया है। जिस प्रकार कामायनी का कथानक जीवन को समग्रता में ग्रहण करता है और जिस प्रकार कामायनी का प्रतिपाद्य जीवन की एकांगी सिद्धि न होकर सर्वांगीण सिद्धि ही है इसी प्रकार कामायनी का अंगीरस भी एकांगी शान्त या शृंगार नहीं है वरन् अखंड आत्म रस है। इसीको महारस या आनंद रस कहा गया है। अभिनव ने इस ही मौलिक अर्थ में शान्त और भोज ने शृंगार की संज्ञा प्रदान की है। स्वयं प्रसाद के शब्दों में भी यही मौलिक रस है जो सामान्य अर्थ में रस की दोनों सीमाओं—शृंगार तथा शान्त—का स्पर्श करता है और जो निस्तरंग महोदधिकल्प सामरस्य का पर्याय है

"शैवागम के आनन्द सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी रस की दोनों सीमाओं शृंगार और शांत को स्पर्श करते थे। यह शांतरस निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता ही है।

उदात्त चरित्र

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिए और धीरोदात्त के लक्षण हैं महासत्त्व, अतिगंभीर, क्षमावान्, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ अहंकारवान् और दृढ़व्रत। इन लक्षणों के आधार पर स्पष्टतः मनु धीरोदात्त नायक सिद्ध नहीं होते। धीरोदात्त नायक के व्यक्तित्व का निर्माण जहाँ मानव-सभ्यता की अत्यन्त विकसित स्थिति में ही संभव है वहाँ मनु का व्यक्तित्व-विकास मानव-चेतना के विकास का प्रतीक है। मनोविज्ञान तथा विकासवाद (जिसको प्रसाद ने आधार रूप में ग्रहण किया है)—दोनों के ही अनुसार आदि पुरुष मनु का चरित्र पूर्ण विकसित रूप में अंकित नहीं किया जा सकता था। सहज मानव चेतना का प्रतीक होने के नाते मनु का चरित्र विकासशील है। शैवदर्शन की शब्दावली में वह पाशव या आणव स्थिति से आरम्भ होकर शाम्भव स्थिति को प्राप्त करता है। नायक के चरित्र

का यह विकास कामायनी के प्रतिपाद्य के अनुरूप ही नहीं है वरन् उसके लिए अनिवार्य भी है—धीरोदात्त गुणों से समन्वित विकसित चरित्र की संगति न कामायनी के कथानक के साथ बैठ सकती है और न उसके प्रतिपाद्य के साथ ही। इसलिए, मनु की दुर्बलताओं का उल्लेख कर जो कामायनी की दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हैं वे कामायनी के स्वरूप तथा लक्ष्य दोनों के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण मनु अहंकार, स्वार्थ, इंद्रिय-लिप्सा, अस्थिरता आदि अनेक मानव चेतना की हीनतर प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हो सकते थे, किन्तु क्रमशः इन दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर वे पूर्ण समरस मानवत्व—आध्यात्मिक तन्मयता में निजत्व की सिद्धि करते हैं, जहाँ वे धीरोदात्त स्थिति से भी कहीं ऊपर उठ जाते हैं।

एक पुरुष का प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष और उसपर विजय का महान् प्रयास—मनु के चरित्र-चित्रण का एक रूप यह भी हो सकता था जो परम्परागत महाकाव्य के अनुरूप होता। आचार्य शुक्ल संभवतः मनु का चरित्र विकास इसी रूप में देखना चाहते थे, इसीलिए कामायनी में उसका अभाव देखकर उनका मन खिन्न हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से मनु का यह विराट् व्यक्तित्व विकास निश्चय ही बड़ा आकर्षक होता, किन्तु कामायनी का कवि तो अपने कथानक तथा प्रतिपाद्य की भिन्न परिस्थितियों में विवश था। अतः उसके लिए यह पद्धति ग्रहण करना संभव ही नहीं था। अत्यन्त संक्षिप्त कथानक के भीतर इस व्यक्तित्व प्रसार के विस्तार से संभव नहीं था। इसीलिए चाणक्य, स्कन्दगुप्त आदि ऐतिहासिक चरित्रों की सफल सर्जना करने के उपरान्त भी प्रसाद जी क्या उस विराट कल्पना-मूर्ति का अंकन नहीं कर सके। यह तथ्य कि उनकी कल्पना में उभरा हो न हो ऐसा नहीं है। इस शंका का निर्मूल करने के लिए कामायनी की आरम्भिक पंक्तियों का उद्धरण पर्याप्त होगा —

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह
एक पुरुष, भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह॥
नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल, था एक सघन;
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन॥

यहाँ पे सार्वभौम प्रलय-प्रवाह पर एक पुरुष के रूप में मनु की यह स्थिति उसी विराट् कल्पना की ओर संकेत करती है किन्तु स्पष्ट है कि

उपर्युक्त कारणों से कवि उसे मूर्तरूप नहीं दे सका।

श्रद्धा का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल है। सात्त्विक गुणों से पूर्ण विश्वमंगल भावना की प्रतीक श्रद्धा का व्यक्तित्व विकास की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि स्पष्टतः श्रद्धा मनु की भाँति अनमय मानव चेतना का उसके समग्र रूप में प्रतिनिधित्व नहीं करती। मनु के व्यक्तित्व में जहाँ मानव-चेतना की हीनतर और उच्चतर दोनों ही प्रवृत्तियों का मिश्रण अनिवार्य था वहाँ श्रद्धा केवल उच्चतर प्रवृत्तियों अर्थात् दया माया ममता मधुरिमा और विश्वास आदि ऐसी प्रवृत्तियों का ही प्रतिनिधित्व करती है जो मानव चेतना को पूर्णत्व—दार्शनिक शब्दावली में पूर्ण शिवत्व प्राप्त करने में सहायता देती है। इस प्रकार श्रद्धा के चरित्रांकन में वह बाधा नहीं रही जो मनु के प्रसंग में थी अतः उसमें परम्परागत महाकाव्योचित औज्ज्वल्य एवं गरिमा का भी अद्भुत समावेश हो गया है। यही इड़ा के विषय में भी सत्य है। उसके व्यक्तित्व में भी वांछित ऐश्वर्य एवं गरिमा है। किन्तु श्रद्धा और इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ का द्योतन भी करती हैं स्वभावतः उनकी प्रतीकता के कारण चारित्रिक रूपरेखा में वैसी दृढ़ता और पूर्ण सफलता नहीं आ सकी जैसी कि पाश्चात्य महाकाव्यों के चरित्रों में मिलती है।

उदात्त शैली

कामायनी की शैली सर्वत्र ही एक अपूर्व लोकोत्तर स्तर पर अवस्थित रहती है। उसमें क्षुद्रता का एकान्त अभाव है। प्रयत्न करने पर सम्पूर्ण काव्य में एकाध अपवाद ही मिलेगा। पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य की शैली का प्रमुख गुण माना है असाधारणता। कामायनी की शैली में इस गुण का प्राचुर्य प्रायः दोष की सीमा तक पहुँच गया है। यहाँ सामान्य प्रसंगों में भी शैली का स्तर प्रायः असामान्य ही रहता है और जहाँ कहीं कवि सामान्य धरातल पर उतरने का प्रयत्न करता है वहीं शैली का स्वरूप विकृत हो जाता है। फलतः उसमें अद्भुत ऐश्वर्य एवं अलंकार-विलास है लक्षणा-व्यंजना का विचित्र चमत्कार है। कल्पना तथा भावना के अपूर्व वैभव के कारण इस शैली में मूर्तिविधान और बिम्बयोजना की अद्भुत समृद्धि मिलती है। कामायनी की भाषा सर्वत्र ही चित्रभाषा एवं प्रतीकभाषा है जिसमें तत्सम तथा साभिप्राय सगर्भ शब्दावली का सुन्दर प्रयोग हुआ है। भाषा और अभिव्यंजना के इन असाधारण गुणों के फलस्वरूप कामायनी की शैली सामान्य से सर्वथा भिन्न हो गई है।

शैली की असाधारणता के प्रति आग्रह के कारण ही कामायनी की शैली में इतिवृत्तवर्णन का एकान्त अभाव है। कवि ने अत्यन्त सचेष्ट रूप से मनन चिन्तन संवाद, स्वगत स्वप्न दृश्य-विधान आदि के द्वारा कथा का विकास

किया है। इतिवृत्त शैली के प्रति प्रसाद के मन में एक विचित्र वितृष्णा रही है। कामायनी में कथा का स्तर कल्पना-विलास दार्शनिक गरिमा और रागात्मक ऐश्वर्य के कारण सामान्य से इतना भिन्न रहा है कि वृत्त-वर्णन की प्रमुखता इस समृद्धि का वहन नहीं कर सकती थी।

भारतीय काव्यशास्त्र में व्यंजना से महाकाव्य के सभी को नानावरण क्षमा माना गया है। कामायनी की शैली में यह गुण स्पष्टतः विद्यमान है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और उदात्त से उदात्त मनःस्थिति का अंकन करने में पूर्णतः समर्थ है। सुन्दर और विराट् मधुर और भयानक आदि के वर्णन में उसकी समान गति है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य की शैली के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह विस्तारगर्भा हो मूल, सघन एवं प्रसन्न हो उसमें दुर्गम सब प्रवाह हो। ये गुण वास्तव में ऐहिक कथा प्रधान महाकाव्यों की शैली में मिलते हैं। कामायनी में भी जहाँ भौतिक घटनाओं की प्रधानता है इन गुणों का सम्यक् प्रयोग है जैसे प्रलय-वर्णन संघर्ष आदि में मनु के अहंकार आदि की अभिव्यंजना में ओज गुण का भी उचित समावेश है। किन्तु शैली के अधिकांश कलेवर में सघनता आदि गुणों का निर्वाह संभव नहीं हुआ। क्योंकि कथावस्तु अन्तर्मुख है बहिर्मुख नहीं है इसलिए मूल घटनाओं और दृश्यों के अद्भुत वर्णन से शैली में जो एक प्रकार का सहज भव्यता एवं गद प्रवाह उत्पन्न हो जाता है वह यहाँ नहीं मिल सकता। इसी अन्तर्मुखता के कारण कामायनी की शैली में प्रगीत तत्त्व स्थान स्थान पर उभर आता है। सामान्यतः यह महाकाव्य का दोष है किन्तु यहाँ तो विधान ही अन्तरंग है और घटनाओं की विश्राम भूमि मानव चेतना है इसलिए प्रगीत तत्त्व यहाँ बाधक न होकर साधक ही हुआ है।

समग्रतः कामायनी की शैली निश्चय ही भव्य है। कवि की प्रतिभा ने एक विराट् शून्य को कल्पना और भावना के ऐश्वर्य से जगमग कर दिया है।

निष्कर्ष

कामायनी का महाकाव्यत्व असंदिग्ध है—परम्परा का नितान्त निर्वाह प्रसाद के स्वभाव के विपरीत था। अतः कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र—दोनों में से किसी एक के भी लक्षणों का पूर्ण निर्वाह खोजना व्यर्थ होगा। फिर भी महाकाव्य के प्रायः सभी महत्तत्त्व कामायनी में स्पष्टतः विद्यमान हैं।—केवल एक ही विपर्यय है वह है कार्य-व्यापार का अभाव जिसके परिणाम स्वरूप कथा में बाह्य भौतिक विस्तार नहीं आ सका क्योंकि कामायनी का वस्तु-विधान बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है वह मानव चेतना के विकास की कथा है जो मनु के जीवन-विकास के माध्यम से कही गई है। साधारणीकरण के लिए यहाँ कवि ने रूपक की भावमय पद्धति ग्रहण की है जिसके द्वारा मनु

मानव चेतना के प्रतिनिधि बन जाते हैं। इस प्रकार परम्परागत महाकाव्य—ऐहिक जीवन प्रधान महाकाव्य की कोटि में कामायनी नहीं आती। वह ऐहिक जीवन का महाकाव्य नहीं है मानव चेतना का महाकाव्य है—अतः रूपक-तत्त्व जो सामान्यतः महाकाव्य में बाधक होता है यहाँ साधक बनकर आया है इसीलिए प्रतीक तत्त्व भी यहाँ बाधक न होकर साधक ही हुआ है। मानव चेतना के विकास का यह महाकाव्य अथवा मानव-सभ्यता के विकास का यह विराट् रूपक साहित्य के इतिहास में एक नवीन प्रयोग है—एक अद्भुत उपलब्धि है। इसी रूप में वह परम्परा से भिन्न है—रूपक और महाकाव्य के समन्वय के कारण—कथा के अन्तर्मुख विकास के कारण।

मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन

मुझ जैसे लेखक का जिसने राजकीय सेवा के अनेक प्रलोभनों को छोड़ सायास अध्यापकीय वृत्ति ग्रहण की है इस विषय में दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है। आज से लगभग सात वर्ष पूर्व आकाशवाणी में नियुक्ति के समय उज्ज्वल भविष्य का आकर्षण होते हुए भी मेरा मन एक विचित्र शंका से उद्विग्न हो उठा था साहित्यिक कार्य वहाँ कैसे निभेगा ? एम० ए० पास करने के उपरांत अपनी अकिंचन शक्ति के अनुसार सीमित परिधि के भीतर जिस साहित्य की साधना मैं इतने मनोयोग तथा अध्यवसाय के साथ कर रहा था—जिससे समग्र राष्ट्र भाषा की सेवा चाहे हुई हो या न हुई हो पर आत्म-कल्याण अवश्य हुआ था—उसका मोह मुझे आर्थिक प्रलोभनों की अपेक्षा कम नहीं था। परन्तु जिन गुण-ग्राहक अधिकारी ने आग्रहपूर्वक मेरी सभी शर्तों को क्रमशः स्वीकार करते हुए मुझे अपने कृपा भाव से लाचार कर दिया था उन्होंने मुझे यह आश्वासन भी दिया कि यहाँ तुम्हारी साहित्य-साधना में कोई बाधा न पड़ेगी मैं तो इसको प्रोत्साहित करता हूँ। इस आश्वासन का अवलम्ब लेकर मैं राजकीय सेवा में प्रविष्ट हुआ। आकाशवाणी का वातावरण अधिक अननुकूल नहीं था। मुझे जो काम सौंपा गया वह असाहित्यिक नहीं था वह भी राष्ट्रीय महत्व का रचनात्मक कार्य था। परन्तु रचनात्मक साहित्य और सृजनात्मक साहित्य में अंतर है—रचना अथवा निर्माण एक योजना-बद्ध बुद्धि-सम्मत प्रक्रिया है जिसके पीछे बहिर्मुखी वृत्ति की प्रेरणा रहती है सृजन आत्म-साक्षात्कार के क्षणों की अनिवार्य प्रक्रिया है जिसमें वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। निर्माण का लक्ष्य है कल्याण सृजन का लक्ष्य है आनन्द। आप इसे दोष मानिए या गुण मेरी अंतर्मुखी प्रकृति आनन्द से बढ़कर आत्म-कल्याण अथवा लोक-कल्याण की कल्पना करने में असमर्थ है। वैसे अपने इस जीवन-क्रम में राष्ट्र-सेवा अथवा लोक-सेवा के महदनुष्ठान से दूर समय बचाकर मैंने दैनिक अवकाश के साथ साहित्य-साधना आरम्भ कर दी थी और सरस्वती सर्वथा मूक नहीं हुई थी फिर भी मुझे ऐसा

प्रतीत होने लगा कि दफ्तरी शिकंजे में मेरी अंतड़ियाँ कसती जा रही हैं और मेज़ पर पड़ा हुआ जीवन डेस्की का बैल बनता जा रहा है। तत्त्व-दृष्टि से मेरा दायित्व था रेडियो की भाषा का निर्माण—यह काम अपने आप में बहुत बड़ा था और मैं पहले दो-तीन वर्षों तक अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा बौद्धिक साधनों के साथ उर्दू-मिश्र हिन्दुस्तानी को हिंदी-रूप देने में जुटा रहा। यह भी एक विचित्र अनुभव था। उसकी अनेक स्मृतियाँ मेरे मन में आज गुदगुदी उत्पन्न कर देती हैं। रेडियो की भाषा का वह मूल-सूत्र 'सर्वाधिक सुबोधता' (Maximum Intelligibility) जिसमें शब्द की अभिधा-शक्ति निःशेष हो चुकी थी—और कुछ व्यंजना मात्र रह गई थी। सभी अपने मतानुकूल जिसका अर्थ कर सकते थे उस समय मेरे लिए दृष्टकूट से भी अधिक था। कुछ समय तक इसकी उत्तेजना रही परन्तु धीरे-धीरे वह भी समाप्त हो गई, और शेष रह गया अनुवाद-कार्य का निरीक्षण। यह अनुवाद खण्ड-खण्ड होकर मेरे सामने आता था। मंत्रिमण्डल के सदस्यों और विशेषकर प्रधानमंत्री आदि के राजनीतिक भाषणादि होने पर समाचार-कक्ष में एक अजब हलचल क्या भगदड़-सी मच जाती थी। देवताओं को भी आकाशवाणी के स्वर्ग-खण्ड से उतरकर स्टूडियो के पाताल-खण्ड में आना पड़ता था। उस समय काली पंक्तियों से अंकित सफ़ेद कागज़ की वे धज्जियाँ कुंडल-वेष्टित सर्पों के समान फुंकारने लगती थीं। इसके बाद मैं सोचता—आखिर इस स्नायवी उत्तेजना से क्या लाभ? मैंने काव्य-शास्त्र में पढ़ा था कि वासना-रूप स्थायी भाव की चरम उत्तेजना ही रस है। परन्तु आप विश्वास कीजिए यह उत्तेजना रस नहीं थी—भरत से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक इसका उल्लेख कहीं नहीं था। रात को कभी-कभी हम दौड़-धूप के सपने भी आते थे—और अत्यन्त क्षुब्ध होकर मैं देखता कि महामन ने अनुवाद तो ठीक किया था पर 'स्पेस-बार्ई' से कम मत्था लगाने में भूल हो गई और देवकीनन्दन पाठे की स्फीत आवाज़ से उस महत्त्वपूर्ण वक्तव्य का वह छोटा-सा टुकड़ा तिनके के समान वैसे ही बहता चला गया। सुस्थिर होकर मैं रचनाकी भूमिका की उत्तर प्रत्यक्ष स्थिति का ध्यान करता जहाँ वस्तु सम्बन्ध और सम्बन्धी का ज्ञान नष्ट हो जाता है और सोचता कि भूसा में यह थोड़ा-सा संख्या-व्यतिक्रम क्या अर्थ रखता है? मेरा दूसरा कर्तव्य-कर्म था अंग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्याय बनाना। एक दिन 'सीलिंग प्राइस' पकड़ में आ गया। एक कुसुम ने भाग मना करने पर भी बड़ा ज़ोर लगाकर उसका भी अनुवाद कर डाला 'मोटा नमित तेल'। बाद में किसी ने कहा कि यह तेल न मोटा होता है और न नमित। चित्त को बड़ी ग्लानि हुई और प्रसाद जी के नाटक के ये शब्द मेरी अंतश्चेतना में गूँजने लगे—"मैं ब्राह्मण हूँ—आनन्द-समुद्र में शान्ति-द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण—चन्द्र

मूक मराल मेरे दीप थे, अनन्त आकाश वितान था, हास्य-श्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शैया थी। बौद्धिक विनोद कर्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी ब्राह्मण की जन्म भूमि को छोड़कर कहाँ आ गया! मैंने संकल्प किया भगवान की कृपा से अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ। आकाशवाणी के अनेक अधिकारियों ने निश्छल मन से आग्रह किया, कुछ बड़े प्रलोभन भी सामने आए, बाहर की हितैषियों ने इस भावुकता के विरुद्ध चेतावनी दी, किन्तु मैंने एक बार जो रस्सा तुड़ाया तो पीछे मुड़कर नहीं देखा और सीधे विश्वविद्यालय में आकर साँस ली।

विश्वविद्यालय के मुक्त वातावरण में आकर मेरा मन स्वस्थ हो गया। पहला भाषण 'साहित्य की परिभाषा और स्वरूप' और दूसरा 'कामायनी' पर हुआ। मुझे लगा कि भगवती सरस्वती की प्रेरणा से एक दिन ही में जैसे 'मोटे खनिज तेल' और 'रासायनिक खाद' की उस दुनिया से 'कामायनी' के इस 'आनन्द-लोक' में आ गया हूँ। आनन्दवर्धन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र और प्रसाद की स्वर्गिक प्रतिमाओं ने आशीर्वादमयी प्रेरणा दी, प्रभात छात्र-छात्राओं की विनम्र जिज्ञासा ने अभिनन्दन किया। मेरे मन पर लगी हुई दफ्तरी मलिनता की वह कालिख अपने आप ही बह गई।

व्यवसाय और साहित्य-सृजन का परस्पर क्या सम्बन्ध है, पहले थोड़ा विचार इस सम्बन्ध में कर लेना अप्रासंगिक न होगा। मध्य-युग में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह प्रश्न ही प्रायः नहीं उठता था। कवि का केवल एक व्यवसाय था काव्य रचना, उसके द्वारा किसी राजा या श्रीमन्त का आश्रय पाकर वृत्ति की समस्या हल हो जाती थी। व्यवसाय की दृष्टि से कवियों के रीति-काल में दो मुख्य वर्ग मिलते हैं—राजा-कवि और राजाश्रित कवि। अर्थात् कविता या तो राजा कर सकता था या ऐसा व्यक्ति कर सकता था जिसकी आजीविका का दायित्व किसी राजा ने ले लिया हो। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्य-युग के हिन्दी-साहित्यकार का व्यवसाय और साहित्य-कर्म पृथक् नहीं थे—साहित्यकार जो कवि ही होता था या तो सन्त था, भक्त था या श्रीमन्त था या राजाश्रित। इस प्रकार साहित्य या काव्य-सृजन के अतिरिक्त उसका अन्य कोई व्यवसाय नहीं था। आधुनिक युग में साहित्य के द्वारा जीविका की सिद्धि प्रायः सम्भव न हो सकी, बहुत ही कम वास्तविक साहित्यकार ऐसे सौभाग्यशाली हुए हैं, अतः उन्हें जीविका के लिए किसी व्यवसाय का आश्रय लेना पड़ा। इस देश में अर्थ-व्यवस्था भी बड़ी अस्त-व्यस्त-सी रही है, अतएव साहित्यकार को बड़े विचित्र-विचित्र व्यवसायों की शरण लेनी पड़ी है। सिनेमा की नौकरी, रेडियो की नौकरी तक तो ठीक है, परन्तु उन बेचारों को राजनीतिक रोजगार, व्यापार, बजाजी, रंगसाजी, दर्जी, मूँगफली की दुकान आदि न जाने क्या-क्या

करना पड़ा। किन्तु इन व्यवसायों का भी साहित्य-सृजन से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। साहित्य इनकी शरण-भूमि है जहाँ आकर ये साहित्यकार अपने व्यवसाय की क्लान्ति मिटाते हैं। विज्ञान साक्षी है कि अभावात्मक प्रभाव भावात्मक प्रभाव से कम प्रबल नहीं होता, अतएव इनकी भी सृजन-प्रेरणा किसी प्रकार कम बलवती नहीं है।

मेरा व्यवसाय इस दृष्टि से अधिक सौभाग्यशाली है। अध्यापन का विशेषकर उच्च स्तर के अध्यापन का साहित्य के अन्य अंगों के सृजन से सहज सम्बन्ध न हो परन्तु आलोचना से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वैसे अध्यापक का व्यवसाय साहित्य के प्रायः सभी रूपों के सृजन के अनुकूल पड़ सकता है क्योंकि उसमें सभी प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, शान्तिमय वातावरण, मनोवस्तु संघर्ष तथा स्वार्थी उत्तेजना का अभाव, महान प्रतिभाओं के साथ आध्यात्मिक सम्पर्क, कम से कम वाणी द्वारा आत्माभिव्यक्ति—ये सभी परिस्थितियाँ सृजन के लिए अनुकूल हैं। फिर भी कुछ साहित्य-रूप ऐसे हैं जो कदाचित् अधिक अनुभव-विस्तार तथा गहरे जीवन-मंथन की अपेक्षा करते हैं—उदाहरण के लिए उपन्यास या नाटक के लिए अध्यापक-जीवन की शान्ति और सीमित परिधि अधिक उपयोगी नहीं है, और इसका एक स्थूल प्रमाण यह है कि देश-विदेश का कोई विरला ही उपन्यासकार अध्यापक रहा हो। किन्तु आलोचना के विषय में यह शंका नहीं हो सकती—आलोचना और अध्यापन का अन्योन्याश्रित-उपकारक सम्बन्ध है, उच्च स्तर के अध्यापन से तो आलोचना का पोषण होता है। और इसका भी एक प्रमाण यह है कि देश-विदेश के अधिकांश आलोचक अध्यापक हैं, रहे हैं या बन गए हैं। यह स्वाभाविक भी है। आलोचक के मूलतः कर्तव्य कर्म हैं (१) रस ग्रहण करना (२) गृहीत रस को अपने व्याख्यान-विवेचन के द्वारा सभी सहृदयों के लिए सुलभ करना या उसमें सहायता देना (३) इसके आगे सत्-असत् का निर्णय कर जिज्ञासु-समाज का मार्ग-दर्शन करना और अंत में (४) साहित्य की गतिविधि का अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण तथा संचालन करना। इनमें से पहला तो अधिक सहज एवं सुगम है क्योंकि काव्य का पूर्ण आस्वादन तो प्राथमिक आवश्यकता है और वह अपने आप में सिद्धि भी है। यदि प्रमाता उतने ही पर रुक जाए तब भी उसे सफल-काम मान लेना चाहिए। रसास्वादन अथवा सवेद्य अनुभूति का समग्र ग्रहण काव्य की सबसे सफल आलोचना है, ऐसा प्रमाता बिना कुछ लिखे भी काव्य का मूक आलोचक होता है। सत्-आलोचना का पहला सोपान यही मूक आलोचना है। अध्यापक के लिए यह सहज सुलभ है, श्रेष्ठ काव्यों का अध्ययन—महान प्रतिभाओं के साथ मानसिक साहचर्य उसका दैनिक कर्म है। अन्य व्यवसाय के साहित्यकार को जहाँ इसके लिए भी समय निकालना पड़ेगा, वहाँ अध्यापक का तो व्यवसाय ही

यही है। दूसरा सोपान है इस आस्वाद को सहृदयता के लिए सुलभ करना। अध्यापक सुशिक्षित व्याख्याता और विवेचक होता है। ऊँची श्रेणी के विद्यार्थी और अनुसन्धाता को काव्य का मर्म समझाना उसका स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म है। लेखक का अपने पाठक के साथ सम्बन्ध जहाँ परोक्ष होता है वहाँ अध्यापक का प्रत्यक्ष होता है। काव्य का एक मूल उद्देश्य है सम्प्रेषित करना—सफल अध्यापक का भी यही पहला गुण है। काव्य के संवेद्य-सार को काव्य से खींच कर अपनी आत्मा में भर लेना और फिर उसे अपनी आत्मा के रस में पागकर ग्रहणशील छात्र-वर्ग की आत्मा में भरकर उसकी अन्तश्चेतना को स्फुरित कर देना अध्यापक की सिद्धि है और मेरा विश्वास है कि आलोचक भी इससे बड़ी किसी सिद्धि की कामना नहीं कर सकता। कामायनी आदि को समाप्त करने के बाद मेरे मन में प्रायः यह आता है कि अध्यापक भी साधारणीकरण का एक समर्थ साधन है। अध्यापक के इस रूप का निश्चय ही आलोचक के साथ घनिष्ठ आत्मीय सम्बन्ध है। आलोचक के कर्तव्य-कर्म की चरम परिणति यही है। इसके आगे सत्-असत् का निर्णय भी उसका धर्म है। स्वयं निर्णय और छात्र-वर्ग की निर्णय-शक्ति का विकास अध्यापक के धर्म की परिधि में भी आते हैं। साहित्य का असाहित्य से भेद करना और कराना सफल अध्यापक का भी उतना ही आवश्यक कर्तव्य है जितना आलोचक का। अपनी सीमित परिधि में अध्यापक भी काव्य-जिज्ञासुओं की रुचि का संस्कार तथा निर्माण कर आलोचना की पूर्व पीठिका तैयार करता है। अन्त में साहित्य की गति-विधि का नियन्त्रण तथा सञ्चालन आलोचक का उच्चतम लक्ष्य माना गया है। इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि अपवाद रूप से कोई-कोई अत्यन्त समर्थ आलोचक ही ऐसा कर सकता है। सामान्यतः यह सम्भव नहीं होता और साहित्य के लिए यह शुभ लक्षण भी नहीं है। साहित्य की गति-विधि का सञ्चालन स्रष्टा कलाकार की चैतन्य प्रतिभा द्वारा ही सम्भव है। आलोचक उसका आख्यान कर उसके काव्य-सौन्दर्य को सुलभ कर, उसके संवेद्य के साधारणीकरण में योग देकर, सार-असार या काव्य की गुणवत्ता में सहृदय-मन रमाता है। इससे अधिक का गर्व आलोचक के लिए उचित नहीं है। अध्यापक भी अपनी छोटी-सी परिधि में ऐसा प्रयास कर सकता है। मैंने अनेक साहित्यिकों का यह कहना सुना है कि अरे अध्यापक लोग जिनको पढ़ा दें वही महाकवि है। इसको यह विज्ञापन अध्यापक के महत्त्व की परोक्ष स्वीकृति है। इस प्रकार अध्यापक अपने क्षेत्र में आलोचक के कर्तव्य का निर्वाह करता है।

यह तो हुआ उज्ज्वल पक्ष। साहित्य-सृजन के लिए अध्यापन-वृत्ति की कुछ बाधाएँ भी हैं। अध्यापक के लिए एक बड़ा खतरा यह है कि पढ़ा कर सिद्धान्त की बात करते-करते काव्याभ्यास जड़ न बन जाए। साहित्य-सृजन की सहज

बड़ी बाधा है यह। यह धीरे-धीरे उसकी आस्वाद-वृत्तियों को कुंठित कर सृजन-शक्ति का नाश कर देती है। अध्यापक सिद्धान्त के कठि-जाल में जकड़ जाता है उसका व्याख्यान-विवेचन अपनी स्फूर्ति खो बैठता है। ऐसे अध्यापक को एक प्रकार के सूक्ष्म रस के प्रति रुचि हो जाती है और वह शास्त्र के माध्यम से काव्य का ग्रहण करता हुआ उसके वास्तविक रस से अपने को वंचित कर लेता है। ऐसे अध्यापक की आलोचना स्वभावतः ही सूक्ष्म-आलोचना होगी। एक दूसरा बड़ा खतरा परीक्षा का है। कोई भी ईमानदार अध्यापक परीक्षा की एकान्त उपेक्षा नहीं कर सकता ऐसा करना अपने व्यवसाय के प्रति बेईमानी होगी। परीक्षा साहित्य-शिक्षण का निकृष्टतम किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से अनिवार्य अंग है। आज की शिक्षा-व्यवस्था में उसका महत्त्व सर्वाधिक है—इसमें सन्देह नहीं। इसलिए कोई भी अध्यापक परीक्षा से सर्वथा पराङ्मुख होने का दम्भ नहीं कर सकता। उसका विद्यार्थी ऐसा करने भी नहीं देगा। अध्यापक आलोचक को चाहिए कि साहित्य-सृजन और अपने व्यवसाय के इस अंग में किसी प्रकार की मैत्री न होने दे, अन्यथा आलोचना में 'सुगम-बोध' की गन्ध आने लगेगी। इस व्यवसाय का यह खतरा भी बहुत बड़ा है। तीसरा खतरा है शिक्षक वृत्ति का विकास। काव्य के आस्वादन के लिए कवि और काव्य के प्रति श्रद्धा भाव अनिवार्य है। कवि के समक्ष प्रमाता को विद्यार्थी-रूप में जाना चाहिए। विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते अध्यापक का यह दृष्टिकोण कुण्ठित हो जाता है। वह कवि के सामने भी शिक्षक के रूप में जाता है। आलोचक की यह घोर विफलता है और अध्यापक-वृत्ति इस दृष्टिकोण को प्रोत्साहित कर आलोचना के सृजन में बाधक होती है। अध्यापक-आलोचक को इन बाधाओं के प्रति अत्यंत सतर्क रहना चाहिए—उसे गालिब का यह शेर गुरु-मन्त्र के समान सदा याद रखना चाहिए कि —

इश्क़ का दिल में दे जगह गालिब।
इल्म से शायरी नहीं आती॥

कहानी और रेखाचित्र

"सैमू बाबू, कैसा लगा हमारा शनिवार समाज आपको ?"
—कार स्टार्ट करते हुए मैंने पूछा।

"मैं तो काफी प्रभावित हुआ। पिछली बार मैंने कान्ता से पूछा था कि दिल्ली में साहित्यिक जीवन कैसा है तो उसने कहा था कि साहित्यकार तो यहाँ बहुत हैं लेकिन साहित्यिक जीवन कोई खास नहीं है। ले-देकर शनिवार समाज है, उसमें भी तू-तू मैं-मैं या हा-हा ही-ही रहती है। पर आज तो मैंने देखा कि यहाँ विचार-विमर्श का स्तर अच्छी-अच्छी शास्त्रीय परिषदों से ऊँचा रहता है।"

"हाँ—कान्ता दो-तीन बार आई थी। उन दिनों सचमुच थोड़ी-सी शिथिलता आ गई थी जो सदा अस्वाभाविक नहीं होती। रही हा-हा ही-ही की बात—वह तो आज भी थी ही और मेरा ख़याल है मर्यादा के भीतर सदा रहनी भी चाहिए। आखिर यह कोई परीक्षा-भवन तो है नहीं और न यहाँ धार्मिक सत्संग ही होता है। वास्तव में शनिवार समाज दिल्ली के साहित्यिक जीवन की अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम बन गया है। बीच-बीच में थोड़ा-सा वैमनस्य या मामूली-सी रगड़ भले ही पैदा हो जाए पर साधारणतः इसे प्रायः सभी का सद्भाव प्राप्त है। पहले चिरंजीत ने इसे ठीक जमा रखा था और अब विष्णु जी ने जब से इसे फिर सँभाला है तब से इसमें फिर जान आ गई है। विष्णु आदमी भले हैं और कुशल भी।"

सैमुएल मार्टिन जौहरी सेन्ट जोन्स में मेरे सहपाठी थे। उस्मानिया यूनिवर्सिटी में ६ वर्ष अंग्रेजी के अध्यापक रहने के बाद हाल ही में टोरेन्टो से "सौन्दर्य शास्त्र" पर पी-एच० डी० की डिग्री लेकर आए हैं। दिल्ली में अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ आए हुए थे। पिछले से पिछले शनिवार की शाम को मेरे साथ थे। इस शर्त पर शनिवार समाज में मेरे साथ आए थे कि उनको अपरिचित बराबर ही रहने दिया जाए। इसीलिए मुझसे कुछ थोड़ा हटकर कोने में बैठ गए

थे और बिना बोले सब-कुछ चुपचाप देखते-सुनते रहे थे। वैसे बड़े तेजस्वी व्यक्ति हैं। हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में ही थोड़ा-सा लिखा है पर जो कुछ लिखा है उसमें चमक और धार दोनों हैं।

दिल्ली दरवाजे पर एक महिला को उतारने के बाद मैंने फिर बातचीत का क्रम जारी रखते हुए कहा "आज का विषय बड़ा दुरूह-सा था। तुम्हारा क्या खयाल है ? तुम्हें किसकी बात ज्यादा जंची ? मेरे इस वाक्य को सुनकर ऐसा लगा जैसे उनकी मौलिकता पर कोई चोट लगी हो हालांकि मेरा यह मतलब बिल्कुल नहीं था। बोले— आई कैन थिंक फ़ार माई सैल्फ लेकिन फिर भी आज सभी के विचारों में पर्याप्त तथ्य था। आपके यहां कोई रेकार्ड नहीं रखा जाता क्या ? मैं समझता हूं आज की बहस को यदि लेख-बद्ध कर दिया जाए तो कहानी और रेखाचित्र के अन्तर पर अत्यन्त मौलिक निबन्ध बन सकता है।

मैंने कहा 'ऐसा कोई ठोस विवरण हम लोग नहीं रखते। किन्तु आशा मेरे मन में भी है कि इसे लेखबद्ध किया जाए।"

दीनू बाबू बोले— अच्छा।

दीनू बाबू ने शायद उसी रात को बैठकर यह लेख लिख डाला और दो तीन दिन बाद टाइप कराकर ले आए। मैंने भी चार-छः दिन में लिख डालने का वायदा किया पर काम इतना आ पड़ा कि मैं न लिख पाया और दीनू बाबू पिछले सोमवार को चले गए। मैं सोच रहा था आज तक तो अपना लेख तैयार कर ही दूंगा और दोनों को ही शनिवार समाज की बैठक में पढ़ दूंगा। परन्तु मैं तो आज भी रह गया। इसलिए अब आपके सामने अपने मित्र डा० दीनेन्द्र मोहन का लेख ही प्रस्तुत किए देता हूं। अगली गोष्ठी में अपना लेख भी निश्चय ही ले आऊंगा।

× × ×

उस दिन भाई नगेन्द्र के साथ दिल्ली के शनिवार समाज में गया था। नगेन्द्र ने वादा कर लिया था कि मुझे अपरिचित ही रहने दिया जाएगा फिर भी मैंने कुछ और सावधानी बरती और उनसे थोड़ी दूर कोने में चुपचाप बैठ गया। इससे मुझे दुगना लाभ हुआ। अनावश्यक परिचय के उपहास से बच गया और साथ ही ध्यानपूर्वक गोष्ठी के वार्तालाप को सुन सका था शायद नगेन्द्र के पास बैठने से ऐसा सम्भव नहीं था क्योंकि उनमें गम्भीरता और चंचलता का इतना अनमेल मिश्रण है कि दो-एक मिनट के अन्तर से ही वे गंभीर से गंभीर बात और फिजूल से फिजूल बकवास कर सकते हैं। क्लास में एकाध बार मुझे उनकी मेहरबानी से प्रोफ़ेसर टाइप का अकारण ही कोप भाजन बनना पड़ा था।

गोष्ठी में कुछ देर उस दिन के संचालक-वक्ता श्री० दर की प्रतीक्षा रही।

उनके आते ही लेख-पाठ आरम्भ हो गया। श्री० कर दुहरे बदन के स्वस्थ प्रसन्न व्यक्ति थे। युवावस्था का उत्साह और आत्म-विश्वास तथा प्रौढ़ि का गाम्भीर्य उनमें था। थोड़ी-सी क्षमा-याचना के बाद उन्होंने अपना लेख आरम्भ किया। इस क्षमा-याचना के दो कारण थे। एक तो समयाभाव के कारण लेख जल्दी में लिखा गया था और दूसरे हिन्दी में—जिसे उन्होंने अभी थोड़े दिन से शुरू किया है। दोनों बातें ही ठीक थीं। लेख में—जल्दी के कारण निश्चय ही असम्बद्धता आ गई थी, दूसरे उसमें विवेचन और विश्लेषण की अपेक्षा वर्णन अधिक था। भाषा में उर्दू की लचक और चमक साफ़ ज़ाहिर थी, फिर भी हिन्दी के प्रति अपरिचय स्पष्ट होने के कारण वह जगह-जगह कुछ गंभीर हो जाती थी और कर साहब को रवानी बनाए रखने के लिए प्रायः शब्द को और कभी-कभी अपने चेहरे और गर्दन को भी झटका देना पड़ता था। ख़ैर यह तो मैं यों ही प्रसंगवश कह गया, कर साहब के लेख का प्रतिपाद्य अत्यन्त स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त था और इसका कारण यह था कि उन्होंने केवल बौद्धिक स्तर से नहीं वरन् व्यावहारिक रूप में अर्थात् एक तटस्थ आलोचक की भाँति नहीं वरन् एक स्वतंत्र सशक्त कलाकार की दृष्टि से प्रश्न पर विचार किया था। उनका अभिमत था कि कहानी और रेखाचित्र में कोई मौलिक अंतर नहीं है। यह धारणा ग़लत है कि घटना की प्रधानता कहानी को रेखाचित्र से पृथक् करती है। कहानी के लिए घटना बिल्कुल अनिवार्य नहीं है और इसके अतिरिक्त घटना केवल स्थूल और भौतिक ही हो यह भी ज़रूरी नहीं है, वह मानसिक भी हो सकती है। इसी प्रकार तथाकथित रेखाचित्रों में भी घटना का एकदम अभाव नहीं हो सकता। अगर आप कहें कि रेखाचित्र में चरित्र-चित्रण की प्रधानता होती है तो यह भी कहानी के क्षेत्र से बाहर की चीज़ नहीं है। इसलिए रेखाचित्र कहानी का ही एक रूप है। आज कहानी की परिभाषा इतनी व्यापक और उसकी रूप-रेखा इतनी शिथिल हो गई है कि रेखाचित्र नाम की चीज़ अपने सभी रूपों में उसके भीतर ही आ जाती है।

इसके बाद कमरे में कुछ सन्नाटा-सा छा गया। लोग इधर-उधर से अपने विचार प्रकट करने के लिए आतुर दिखने लगे। अन्त में मन्मथ को ही बोलना पड़ा। मन्मथ में मैंने अब भी वही झिझक पाई जो आज से १८-१९ वर्ष पहले सेण्ट जॉन्स में थी। यद्यपि उन्होंने कुछ दो-चार स्केच भी लिखे थे फिर भी वे इसमें कोई निश्चित वक्तव्य देने से बच निकलने की कोशिश कर रहे थे। आख़िर उन्होंने कहना शुरू किया, कहानी और रेखाचित्र में कोई तात्त्विक अन्तर बतलाना कठिन है, फिर भी दोनों में अन्तर अवश्य है क्योंकि ये दोनों शब्द आज भी बराबर प्रचलित हैं और इनका प्रयोग करने वाले इनके द्वारा एक ही अर्थ की व्यंजना नहीं करते। कहानी के विषय में तो किसी को विशेष भ्रान्ति

होने की आवश्यकता नहीं है रेखाचित्र के विषय में ही कठिनाई है। स्पष्टतया ही रेखाचित्र चित्र-कला का शब्द है जैसा कि नाम से ही व्यक्त है। इसमें चित्रांकन का मूल आधार रेखाएं होती हैं। ज्यामिति में रेखा की विशेषता यह है कि इसमें लम्बाई मात्र होती है मोटाई चौड़ाई आदि नहीं होती। अतएव अपने मूल रूप में रेखाचित्र में मोटाई चौड़ाई अर्थात् मूर्त रूप और रंग आदि नहीं होते। उसमें आकार तो होता है पर भराव नहीं होता इसीलिए उसे खाका भी कहते हैं। जब चित्रकला का यह शब्द साहित्य में आया तो इसकी परिभाषा भी स्वभावतः इसके साथ आई अर्थात् रेखाचित्र एक ऐसी रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमें रेखाएं हों पर मूर्तरूप अर्थात् उतार-चढ़ाव—दूसरे शब्दों में कथानक का उतार चढ़ाव—आदि न हो तथ्यों का उद्घाटन मात्र हो। पूर्व आयोजन अथवा आयोजित विकास न हो। रेखाचित्र में तथ्य चुनते जाते हैं संयोजित नहीं होते हैं। कहानी के लिए घटना का होना जरूरी नहीं है पर रेखाचित्र के लिए उसका न होना जरूरी है घटना का भराव वह सहन नहीं कर सकता। इसी प्रकार कहानी के लिए विश्लेषण किसी प्रकार भी अवांछनीय नहीं है परन्तु रेखाचित्र का वह प्राय अनिवार्य साधन है। —नगेन्द्र के वक्तव्य से लगता था उनके मन में कहानी और रेखाचित्र के सूक्ष्म अन्तर की एक निश्चित धारणा अवश्य है और वह स्पष्ट भी है। थोड़ा सोचने पर वह मुझे और मैं समझता हूं कुछ और व्यक्तियों को भी स्पष्ट हो गई पर उनका कहने का ढंग अच्छा नहीं था। उनका विचार स्पष्ट था पर उनके वाक्य एक दूसरे से लिपट जाते थे और वे हकलाने लगते थे। यह देखकर मुझे सैम जोन्स के अनेक हास्य याद आ गए जब बहस के समय नगेन्द्र की कल्पित रत्नाकर की गोपियों की जैसी हो जाती थी—'नेकु कही बैननि अनेक कही नैननि सौं रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सौं'। मुझे याद है कि एक दिन वे गुरुवर प्रो० अमरनाथ झा से भी लड़ पड़े थे और महीनों उनके यहां नहीं गए थे।

उस दिन भी कई ऐसे व्यक्ति थे जिनको नगेन्द्र की बात उलझी-सी लगी। एक नौजवान उनसे उलझ भी पड़े। बोले—डाक्टर साहब उदाहरण देकर अपना मन्तव्य स्पष्ट करें तो ठीक है। नगेन्द्र मन में उदाहरण सोचने लगे थे कि विष्णु जी ने महादेवी के रेखाचित्रों की ओर संकेत किया। नगेन्द्र बोले हां अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएं' दोनों ही रेखाचित्रों के संकलन हैं। उधर प्रेमचन्द जी की अधिकांश कथा-कृतियां आत्माराम मन्दिर, दफ्तर आदि कहानियां हैं।—पर प्रश्नकर्ता इससे सन्तुष्ट नहीं हुए, उनका कहना था कि महादेवी की उपर्युक्त कृतियां रेखाचित्र नहीं हैं संस्मरण (मिमोयर्स) हैं। परन्तु यह लोगों को मान्य नहीं हुआ। उस समय तो मुझे भी उनका तर्क कुछ

बेमानी-सा लगा और इसका कारण शायद यह था कि अंग्रेजी का (मिमोयर) शब्द इस प्रसंग में कुछ भ्रामक था। मेमोयर्स में ऐतिहासिकता प्रायः अनिवार्य सी ही रहती है और महादेवी के चित्रों में निश्चय ही यह बात नहीं है। परन्तु प्रश्नकर्ता का तर्क सर्वथा असंगत नहीं था। महादेवी के ये चित्र प्रायः संस्मरण ही हैं। अन्तर इतना ही है कि उनके विषय प्रसिद्ध व्यक्ति न होकर अपरिचित व्यक्ति हैं। लेकिन मेरी धारणा है कि संस्मरण और रेखाचित्र में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, कोई मौलिक अन्तर भी नहीं है। वास्तव में उनकी जाति एक ही है या यह कहिए कि संस्मरण रेखाचित्र का एक प्रकार मात्र है जिसमें एक व्यक्ति का चित्र होता है और वह व्यक्ति प्रायः वास्तविक होता है, काल्पनिक नहीं।

'मेमोयर्स' शब्द को लेकर एक और उलझन सामने आई। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वे प्रो० बालकृष्ण थे जो बहुत दिनों तक इतिहास के अध्यापक रहने के बाद आजकल राष्ट्रपति के प्रेस-अटैची हैं। उनका मत था कि मेमोयर एक अलग चीज है, वह इतिहास की वस्तु है, उसके लिए ऐतिहासिक तथ्य संकलन का निश्चित आधार अनिवार्य है। रेखाचित्र के साथ उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। परन्तु प्रो० बालकृष्ण को मेरी व्याख्याओं पर भी आपत्ति थी। उन्होंने कहा कि पूर्व-आयोजन तो रेखाचित्र के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना कहानी के लिए, अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि रेखाचित्र में केवल वस्तुपाठ मात्र होता है, यह अन्तर काल्पनिक है। मूलतः तो कोई भी इनमें असमानता नहीं होती। दोनों में मात्रा का अन्तर है। प्रो० बालकृष्ण ने अपने तर्क को और आगे बढ़ाते हुए कहा, अगर दोनों में आयोजन की मात्रा का ही अन्तर है तब भी यह अन्तर क्रम या कलेवर के रूप-आकार का ही होगा, मूल आत्मा का नहीं। मैंने कहा, हाँ, बहुत-कुछ यह अन्तर कलेवर का ही है यद्यपि कलेवर और आत्मा का एक दूसरे से इतना गहरा सम्बन्ध है कि इस विषय में सर्वथा ऐकान्तिक निर्णय नहीं किया जा सकता। परन्तु सामान्यतः कहानी और रेखाचित्र एक दूसरे के इतने निकट हैं कि दोनों का अन्तर प्रारम्भ न होकर परिणाम का माना जा सकता है। पता नहीं प्रो० बालकृष्ण को यह मत कहाँ तक मान्य था, परन्तु उनकी धारणा इस विषय में कुछ और ही थी। उनका कहना था कि रेखाचित्र में रेखाओं का आधार होता है, रंग आदि का नहीं। अतएव उसमें रंग अर्थात् भावना का अभाव रहता है। रेखा रंग की अपेक्षा सूक्ष्म है—जैसे पौरुष कथन की रेखा। इस लिए रेखाचित्र और कहानी का मूल अन्तर यही है कि रेखाचित्र कहानी से बौद्धिक अधिक होता है। मैंने उनकी यह व्याख्या नहीं मानी क्योंकि कहानी में भी उनके अनुसार अपेक्षाकृत सांकेतिकता हो सकती है और अन्य

होती है। वह कहती कम है पाठक के मन में संकेतों द्वारा संसर्ग-चित्र ही अधिक जगाती है।

इस प्रश्नोत्तर के उपरान्त एक और सज्जन श्री० तिवारी ने हमको परन्तु विनम्र आवाज में कहा भाई, अन्तर दोनों में एक ही है कहानी गत्यात्मक होती है रेखाचित्र स्थिर होता है।—इस पर जैनेन्द्र जी ने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया—मानों अब तक के विचार-विनिमय में पहली बार तथ्य की बात कही गई हो। परन्तु जैनेन्द्र जी के आशीर्वाद के बावजूद एक मित्र तिवारी जी से गत्यात्मक (Dynamic) और स्थिर या स्थित्यात्मक (Static) शब्दों की परिभाषा को लेकर उलझ पड़े। कुछ ही क्षणों में सभा में पारिभाषिक शब्दों का घटाटोप छा गया क्योंकि वादी-प्रतिवादी दोनों ही मान-मनमाने पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। प्रहार और प्रतिरक्षा दोनों का ही साधन पारिभाषिक शब्द थे। परन्तु यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रही और संचालक महोदय ने इस तार्किक गत्यवरोध को भंग करने के लिए जैनेन्द्र जी से अपने विचार व्यक्त करने का अनुरोध किया। जैनेन्द्र जी से आरम्भ में भी आग्रह किया गया था परन्तु उस समय उन्होंने कहा था कि हम कुछ कहना नहीं है। इस पर मुझे आश्चर्य भी हुआ था क्योंकि मैंने रेडियो पर उनके कई वक्तव्य सुने थे जिनमें प्रत्युत्पन्नमति का अच्छा निदर्शन था इधर नगेन्द्र ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा था कि इस प्रकार के तात्कालिक परिसंवादों में जैनेन्द्र जी की प्रतिभा विशेष रूप से निखर उठती है। इस बार जैनेन्द्र जी सहज स्वभाव से प्रस्तुत थे मुझे लगा जैसे वे आरम्भ के नहीं उपसंहार अथवा यों कहिए वक्तव्य के नहीं आशीर्वचन के अभ्यस्त हों। जैनेन्द्र जी ने धीरे-धीरे बीच के शब्दों को—प्रायः विभक्तियों को—खींचकर उच्चारण करते हुए बोलना शुरू किया हमको तो तिवारी जी की बात ठीक लगती है परन्तु पारिभाषिक शब्द परेशानी पैदा कर देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कहानी गतिमती होती है और रेखाचित्र स्थिर। कहानी में रेखाचित्र से एक पहलू अधिक होता है यदि रेखाचित्र में एक पहलू होता है तो कहानी में दो और अगर रेखाचित्र में दो मानिए तो कहानी में तीन यानी अगर रेखाचित्र में सिर्फ लम्बाई ही है तो कहानी में लम्बाई के अतिरिक्त चौड़ाई भी होती है और अगर रेखाचित्र में लम्बाई और चौड़ाई होती है तो कहानी में मोटाई या मोसाई और मालूमी पड़ेगी। लेकिन यहाँ भी शब्दों की उलझन शुरू हो गई। एक मिसाल देकर मैं अपनी बात और साफ कर दूँ। सिनेमा में जो क्लोज-अप होता है वह तो रेखाचित्र हुआ जब कि एक चेहरा बड़ा होकर सारे स्क्रीन को ढक लेता है और बाकी फिल्म कहानी हुई। जैनेन्द्र जी की बात अपने आप में साफ थी वास्तव में उनकी धारणाएँ अपने आप में पर्याप्त स्पष्ट थीं और यदि कुछ कहीं उलझन

रह भी जाती थी तो वह उनकी वाणी में आते-आते सुगम हो जाती थी। प्राय: लोगों के विचार वाणी से आगे दौड़ते हैं जिसके कारण उनके शब्द उलझ जाते हैं। कुछ के विचारों और शब्दों में उचित सन्तुलन होता है परन्तु एक तीसरा वर्ग भी होता है जिसके विचार तो पैने होते ही हैं उनकी वाणी उनसे भी ज्यादा पैनी होती है जो उनके विचारों में और चमक पैदा कर देती है। जैनेन्द्र जी में यही बात है। उनकी व्यंग्यात्मक भाषा ने जैनेन्द्र की ही बात का स्पष्टीकरण की परन्तु अपने आप में वह जैनेन्द्र के शब्दों से कहीं अधिक व्यंजक थी। फिर भी जैनेन्द्र जी को लगा कि जैसे उनकी बात का वांछित प्रभाव नहीं पड़ा। चारों ओर आँखें घुमाकर अपनी बात का भाग बढ़ाते हुए बोले—रेखाचित्र अपनी स्थिरता में कुछ गतिहीन हो जाता है वह लोप से कटकर अपने आप में स्वतन्त्र हो जाता है इसलिए उसमें रस और तीव्रता की कमी होती है। वह कुछ 'मस्क्युलर' होता है। जैनेन्द्र जी जिस शब्द के लिए काफी देर से अटके रहे थे वह मानो उन्हें मिल गया था और उनका भाषा को चीरा देने का उद्यम मानो पूरा हो गया था। इसलिए वे अनायास ही चुप होकर एक बार फिर इधर-उधर देखने लगे। 'मस्क्युलर' के इस विचित्र प्रयोग से मैं और मेरी तरह कुछ नये लोग वास्तव में चौंक गए लेकिन अधिकांश लोगों ने उसे हँसकर टाल दिया मानो यह कोई नई बात नहीं थी। सम्भव है ये लोग आचार्य विनोबा के 'बदाम्मी' शब्द पर पहले ही चौंक लिए हों जिससे आज उसकी प्रतिध्वनि का असर जाता रहा।

जैनेन्द्र जी की बात को लेकर एक और सदस्य श्री महावीर अधिकारी ने भी अपने विचार प्रकट किए। उनको कमोबेश वाली बात अर्थात् रेखाचित्र में एक व्यक्ति-चित्र-विषयक स्थापना बहुत पसन्द आई और उसी पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि रेखाचित्र जहाँ एक व्यक्ति की तस्वीर सामने रखता है वहाँ कहानी व्यक्ति को समाज के समक्ष में अंकित करती है—अतएव कहानी में रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक सामाजिकता होती है। मुझे ऐसा लगा कि अधिकारी जी सामाजिकता आदि शब्दों पर जोर देकर बहस में कुछ प्रगतिशील रंग लाने की कोशिश कर रहे थे पर विषय अपेक्षया सैद्धान्तिक एवं पारिभाषिक था इसलिए उन्हें कुछ गुंजायश नहीं मिला।

बहस यहाँ आकर समाप्त हो गई, और अन्त में नियमानुसार प्रारम्भिक वक्ता डॉ० दास से बहस का जवाब देने के लिए कहा गया। डॉ० दास अब भी अपनी बात पर जमे हुए थे—उन्होंने प्राय: सभी विरोधी युक्तियों का अपने ढंग से खंडन करते हुए फिर अपनी स्थापना को दृढ़ किया। उन्होंने कहा कि कहानी में तथ्य उद्घाटन विश्लेषण आदि सभी तो अवश्य हैं और रहते हैं। उसमें तो हास्यव्यंग्य भी होती है और लोग भी इसी तरह एक व्यक्ति-चित्र का

होना उसके बस से बाहर की चीज नहीं है' चरित्र-प्रधान कहानियों में प्राय एक व्यक्ति-चित्र पर ही फ़ोकस रहता है। रेखाचित्र को कहानी से अलग नाम और रूप देने की कोशिश बेकार है।

× × ×

घर जाकर सोचा कि देर करने से कदाचित् मन के चित्र इतने स्पष्ट न रहें इसलिये खाना-वाना खा कर ही लिखने बैठ गया। सब से पहले तो मिस्टर दर की स्थापना ही सामने आई। इसमें संदेह नहीं कि आज कहानी की परिभाषा इतनी शिथिल हो गई है कि रेखाचित्र भी उसमें समा सकता है फिर भी इन दोनों शब्दों का दो अर्थों में समयोचित प्रयोग होता है। अतएव दोनों में अन्तर अवश्य है। रेखाचित्र में दो डायमेन्शन होती हैं एक लेखक और उसके एकात्मक विषय के बीच की सम्बन्ध रेखा और दूसरी इस सम्बन्ध-रूप और पाठक के बीच की संयोजक रेखा। रेखाचित्र का विषय निश्चय ही एकात्मक होता है उसमें एक व्यक्ति या एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है। कहानी में एक डायमेन्शन और बढ़ जाती है यह अतिरिक्त डायमेन्शन विषय के अन्तर्गत होती है कहानी का विषय एकात्मक नहीं रह सकता उसमें द्वैत भाव होना चाहिये अर्थात् एक व्यक्ति अपने में कहानी नहीं बन सकता। उसका अपने आप में होना कहानी के लिए काफ़ी नहीं है कहानी में उसे दूसरे या दूसरों की सापेक्षता में कुछ करना होगा—प्रेम करना होगा बैर करना होगा क्षमा करनी होगी कुछ करना होगा अपने में सिमटकर रह जाना काफ़ी नहीं होगा अपने से बाहर निकलना होगा। इस प्रकार कहानी का विषय एक बिन्दु न होकर दो या अनेक बिन्दुओं की संयोजक रेखा होती है। यही एक अतिरिक्त डायमेन्शन है जो कहानी में बढ़ जाती है। इसी रूप में आप चाहें तो उसे रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक गत्यात्मक कह लीजिए यद्यपि यह शब्द स्थिति को स्पष्ट न कर उसे उलझाता ही है क्योंकि उपर्युक्त अर्थ की व्यंजना यह सीधी नहीं करता। इसीलिये पाठक को लगता है कि कहानी में रेखाचित्र की अपेक्षा रस अधिक होता है क्योंकि द्वैत में निस्सन्देह ही अद्वैत की अपेक्षा अधिक रस है और अन्त में इसी लिए रेखाचित्र को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे बात अधूरी रह गई। उसमें जिज्ञासा की उद्बुद्धि मात्र होकर रह जाती है इसके विपरीत कहानी में उसकी परितृप्ति हो जाती है क्योंकि जहाँ रेखाचित्र में 'मैं' और 'तू' रहते हैं—मैं अर्थात् मुख्यतः लेखक और परिणामतः पाठक और 'तू' अर्थात् विषय वहाँ कहानी में 'मैं' 'तू' और 'वह' का वृत्त पूरा हो जाता है।"

दादा—स्वर्गीय प० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

मेरे किशोर मन में जैसे जैसे साहित्यिक चेतना का विकास होता गया वैसे ही स्वदेश-विदेश के कलाकारों के कल्पना कुसुम रागात्मक चित्र मेरे मन में बनने लगे और उनके साथ एक विशेष प्रकार का रागात्मक संबंध स्थापित होने लगा। कालांतर में प्रसाद और प्रेमचन्द को छोड़कर इस युग के प्राय सभी मूर्धन्य लेखकों से परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मेरे साहित्यिक संबंध क्रमशः दो वर्गों में विभक्त हो गए। पहला वर्ग तो उन लेखकों का है जिनके साथ मेरा कवि-सहृदय-संबंध ही अधिक है—इस संबंध में समवयस्क सहज आत्मीयभाव की अपेक्षा बुद्धि और कल्पना से सम्पृक्त एक प्रकार की तटस्थता सदा ही रही है। दूसरे वर्ग के कवि-लेखकों के साथ साहचर्य का भी सुयोग मिलने से कल्पना-तत्त्व क्षीण और भाव-तत्त्व अनायास ही प्रगाढ़ हो गया है। यह कहना प्रायः कठिन है कि इस वर्ग से केवल लाभ ही लाभ हुआ: वैयक्तिक संबंध के विकास के साथ-साथ साहित्यिक संबंध का ह्रास अवश्यम्भावी था और जहाँ व्यक्ति की गरिमा इस क्षतिपूर्ति में असमर्थ रही वहाँ तो हानि ही अधिक हाथ लगी है।

नवीनजी इस दूसरे वर्ग में ही आते थे। किन्तु प्रारम्भ से ही दद्दा—राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के माध्यम से उनके साथ पारिवारिक संबंध-सा हो गया था: वे केवल कवि नवीन न रहकर दादा नवीन बन गए थे। फिर भी उनके साथ वैयक्तिक-संबंध की स्थापना से साहित्यिक-संबंध की विशेष क्षति नहीं हुई। इसके दो कारण थे: एक तो यह कि उनका अधिकांश साहित्य अप्रकाशित ही था इसलिए अधिकांश परिचय से पूर्व काव्य का परिचय या विस्तृत अथवा घनिष्ठ नहीं था अतः प्रत्यक्ष संपर्क से उनके कवि-रूप का साक्षात्कार भी बढ़ा ही। दूसरे उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता थी कि उनका आकर्षण दूरी में नहीं वरन् सामीप्य में ही निखरता था। आज वे इस संसार में नहीं हैं—हिन्दी की साहित्य-सभाओं में दद्दा के घर की गोष्ठियों में

उनका अभाव मन में एक हूक-सी पैदा करता है। कई बार उनके विषय में लिखने की प्रेरणा हुई—बाहर से भी और भीतर से भी किन्तु अभी तक उनकी मृत्यु का शोक मनोभव की स्थिति पार कर स्थायीभाव नहीं बन पाया। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति के निष्फल प्रयास से मैं बचता रहा किन्तु अब उनके प्रति भावांजलि अर्पित करना अनिवार्य हो गया है। शास्त्र में जहाँ अनेक प्रकार के ऋणों की चर्चा है वहाँ न जाने भावना के ऋण की उपेक्षा क्यों कर दी गई है? मुझे लगता है कि आत्मा के कैवल्य के लिए अन्य ऋणों की अपेक्षा भावना के ऋण से मुक्ति पाना अधिक आवश्यक है। आज इस संस्मरण के द्वारा जब मैं उस ऋण-मोक्ष का पहला प्रयत्न कर रहा हूँ तो मेरी कल्पना में नवीन जी के तीन चित्र क्रमशः उभरकर आते हैं।

१ (कानपुर—१९४५)

अपने शोध-कार्य के संबंध में सामग्री-संकलन करता हुआ मैं स्वर्गीय पं० कृष्णबिहारी मिश्र के ग्राम गंधौली से कानपुर लौटा था। पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' उन दिनों वहीं थे। दूसरे दिन प्रातःकाल ही मैं प्रताप-कार्यालय में उनके दर्शन करने पहुँच गया। वे मुख्य कार्यालय के भीतर ही एक छोटे-से कमरे में बैठे थे—शायद उसमें ही वे रहते भी थे। उन्होंने अत्यंत सहज भाव से मेरा स्वागत किया। उस समय तक उनका नाम साहित्य जगत् में प्रसिद्ध हो चुका था—राष्ट्रीय कवियों की पंक्ति में वे अग्रणी थे। किन्तु उनका केवल एक ही काव्य-संग्रह 'कुमकुम' प्रकाशित हुआ था—उसका अध्ययन तो मैं कर चुका था किन्तु उसके आगे मेरा उनके कृतित्व और व्यक्तित्व से परिचय नहीं था क्योंकि मैं न तो 'प्रताप' का ही पाठक था और न नवीन जी की कर्मभूमि कानपुर अथवा मध्यप्रान्त से ही मेरा कोई सम्बन्ध था। हिन्दी के एक विशिष्ट कवि के प्रति जिस प्रकार की श्रद्धा और सम्भ्रम की भावना अपेक्षित थी मेरे मन में वह विद्यमान थी। साहित्य में उस समय तक मेरा भी प्रवेश हो चुका था मेरी प्रथम चार आलोचना-पुस्तकें—सुमित्रानंदन पंत से लेकर 'विचार और अनुभूति' तक—प्रकाशित हो चुकी थीं। अतः 'नवीन' जी के लिए भी मैं सर्वथा अपरिचित नहीं था। हिन्दी कविता के इतिहास में यह वह समय था जब छायावाद का ज्वार उतर चला था और उसके प्रति एक प्रकार का मुखर विद्रोह बल पकड़ रहा था। जीवन और साहित्य के सूक्ष्म-अतिमानसिक मूल्यों के विरुद्ध बहिर्मुख राष्ट्रीय-सामाजिक प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आ रही थीं। इस आंदोलन के पीछे यद्यपि वामपंथी विचारधारा की प्रेरणा प्रमुख थी किन्तु राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को भी अप्रत्यक्ष रूप में इससे बल मिला। 'नवीन' जैसे उग्र राष्ट्रवादी कवि की क्रान्तिमयी वाणी जो छायावाद के सौरभ-स्नात

रेशमी परिधान में कुछ असामयिक-सी प्रतीत होने लगी थी इस उत्तेजित वातावरण में फिर से हुंकार उठी। इस प्रकार यह 'नवीन' की कविता का पुनर्जीवन काल था। नए मूल्यों का प्रचार करनेवाले आलोचक उनकी रचनाओं के प्रचुर उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि कर रहे थे। मैं इस प्रचार-आन्दोलन के पक्ष में नहीं था—काव्य के सुस्थिर मूल्यों में विश्वास होने के कारण उस प्रचारात्मक या प्रचार-प्रेरित साहित्य के प्रति मेरे मन में एक प्रकार का अनादर भाव था। परन्तु 'नवीन' जी की कविताओं ने मुझे अनायास ही आकृष्ट कर लिया क्योंकि उनका उत्साह और उनकी उत्क्रान्ति सहज अनुभूत और जीवन्त थी। भारत के युग-जीवन में प्रवाहित विद्युत् धारा का उनको ज्वलन्त अनुभव था। अतः चाहे वे गांधी का अग्नि-गान करें या उनकी पराजय-नीति के विरुद्ध आक्रोश की अभिव्यक्ति या उद्दाम शृंगार का उद्गीथ उनकी वाणी अनिवार्यतः प्राण-रस से अभिषिक्त रहती थी। इस प्रकार उनका काव्य सहज रसमय काव्य था—कोरा सिद्धान्तवाद नहीं।

अपने सचेत आलोचक मन में कुछ इसी प्रकार की धारणाएं लेकर मैं अस्तव्यस्त यौवन के उस कवि का व्यक्ति-दर्शन करने गया। उस समय तक मैं पंत के अंतर्बाह्य एक सौम्य-मधुर व्यक्तित्व के कोमल सम्पर्क में आ चुका था निराला की मुक्तकेश विराट पुरुष-मूर्ति के अभिभूत करनेवाले प्रभाव को आत्मसात् कर चुका था महादेवी की कविता के रसभीने रंगों और उनके व्यक्तित्व एवं वेशभूषा की सादगी के बीच सामंजस्य स्थापित कर चुका था अपनी सहज सामान्यता में असामान्य गुप्त-बंधुओं के व्यक्ति-भेद को मन और बुद्धि की आंखों से अलग-अलग कर देख चुका था। पर आज मैं इन सबसे भिन्न कवि के सामने बैठा था। इस कवि की शरीर-संपत्ति आकर्षक थी उसे देखकर अनायास ही कामायनी की पंक्तियों का स्मरण हो आया

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियां ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिराएं स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।

ऐसा नहीं था कि वे अपनी इस शरीर-सम्पत्ति से अवगत न हों—किन्तु उनके मन की मस्ती इतनी प्रबल थी कि सचेत होने पर भी वे उसके प्रति विशेष ध्यान देने में असमर्थ थे। उनके कुछ लम्बे बालों की संवारी हुई बंकिमा जहां इस बात का आभास देती थी कि वह स्वरुचि की भावना से सर्वथा मुक्त नहीं है वहां उनका घुटनों तक का धोतिया इस तथ्य का उद्घाटन कर रहा था कि अन्ततः जीत उनके फक्कड़पन की ही होती है। सुरुचि के अभिचारों से वह सर्वथा रिक्त नहीं है परन्तु मस्ती का गुण उन्हें उस सबकी उपेक्षा करने के लिए लाचार कर देता है। उनके व्यक्तित्व में सामान्यता नहीं थी किन्तु मानवता भरपूर थी। मैं काफी देर तक 'नवीन' जी से बात करता रहा—हिन्दी कविता

उनका अभाव मन में एक हूक-सी पैदा करता है। कई बार उनके विषय में लिखने की प्रेरणा हुई—बाहर से भी और भीतर से भी किन्तु अभी तक उनकी मृत्यु का शोक मनोवेग की स्थिति पार कर स्थायीभाव नहीं बन पाया। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति के निष्फल प्रयास से मैं बचता रहा किन्तु अब उनके प्रति भावांजलि अर्पित करना अनिवार्य हो गया है। शास्त्र में जहाँ अनेक प्रकार के ऋणों की चर्चा है वहाँ न जाने भावना के ऋण की उपेक्षा क्यों कर दी गई है? मुझे लगता है कि आत्मा के कैवल्य के लिए अन्य ऋणों की अपेक्षा भावना के ऋण से मुक्ति पाना अधिक आवश्यक है। आज इस संस्मरण के द्वारा जब मैं उस ऋण-मोक्ष का पहला प्रयत्न कर रहा हूँ तो मेरी कल्पना में नवीन जी के तीन चित्र क्रमशः उभरकर आते हैं।

१ (कानपुर—१९४५)

अपने शोध-कार्य के संबंध में सामग्री-संकलन करता हुआ मैं स्वर्गीय प० कृष्णबिहारी मिश्र के ग्राम गंधौली से कानपुर लौटा था। पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' उन दिनों वहीं थे। दूसरे दिन प्रातःकाल ही मैं प्रताप-कार्यालय में उनके दर्शन करने पहुंच गया। वे मुख्य कार्यालय के भीतर ही एक छोटे-से कमरे में बैठे थे—शायद उसमें ही वे रहते भी थे। उन्होंने अत्यंत सहज भाव से मेरा स्वागत किया। उस समय तक उनका नाम साहित्य-जगत् में प्रसिद्ध हो चुका था—राष्ट्रीय कवियों की पंक्ति में वे अग्रणी थे। किन्तु उनका केवल एक ही काव्य-संग्रह 'कुमकुम' प्रकाशित हुआ था—उसका अध्ययन तो मैं कर चुका था किन्तु उसके आगे मेरा उनके कृतित्व और व्यक्तित्व से परिचय नहीं था क्योंकि मैं न तो 'प्रताप' का ही पाठक था और न नवीन जी की कर्मभूमि कानपुर अथवा मध्यप्रान्त से ही मेरा कोई सम्बन्ध था। हिन्दी के एक विशिष्ट कवि के प्रति जिस प्रकार की श्रद्धा और सम्भ्रम की भावना अपेक्षित थी मेरे मन में वह विद्यमान थी। साहित्य में उस समय तक मेरा भी प्रवेश हो चुका था मेरी प्रथम चार आलोचना-पुस्तकें—'सुमित्रानंदन पंत' से लेकर 'विचार और अनुभूति' तक—प्रकाशित हो चुकी थीं। अतः 'नवीन' जी के लिए भी मैं सर्वथा अपरिचित नहीं था। हिन्दी कविता के इतिहास में यह वह समय था जब छायावाद का ज्वार उतर चुका था और उसके प्रति एक प्रकार का मुखर विद्रोह बल पकड़ रहा था। जीवन और साहित्य के सूक्ष्म अतिमानसिक मूल्यों के विरुद्ध बहिर्मुखी राष्ट्रीय-सामाजिक प्रवृत्तियां उभरकर सामने आ रही थीं। इस आन्दोलन के पीछे यद्यपि वामपंथी विचारधारा की प्रेरणा प्रमुख थी किन्तु राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को भी अप्रत्यक्ष रूप में इससे बल मिला। 'नवीन' जैसे उग्र राष्ट्रवादी कवि की क्रान्तिमयी वाणी को छायावाद के सौरभ-स्नात

रेशमी परिवेश में कुछ असामयिक-सी प्रतीत होने लगी थी इस उत्तेजित वातावरण में फिर से हुंकार उठी। इस प्रकार यह 'नवीन' की कविता का पुनर्जीवन काल था। नव मूल्यों का प्रचार करनेवाले आलोचक उनकी रचनाओं के प्रचुर उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि कर रहे थे। मैं इस प्रचार-आन्दोलन के पक्ष में नहीं था—काव्य के सुस्थिर मूल्यों में विश्वास होने के कारण उस प्रचारात्मक या प्रचार प्रेरित साहित्य के प्रति मेरे मन में एक प्रकार का अनादर भाव था। परन्तु 'नवीन' जी की कविताओं ने मुझे अनायास ही आकृष्ट कर लिया क्योंकि उनका उत्साह और उनकी उत्क्रांति सहज अनुभूत और जीवन्त थी। भारत के युग-जीवन में प्रवाहित विद्युत्-धारा का उनको व्यक्तिगत अनुभव था। अतः चाहे वे गांधी का प्रशस्ति-गान करें या उनकी पराजय-नीति के विरुद्ध आक्रोश की अभिव्यक्ति या उद्दाम शृंगार का उद्‌गीथ उनकी वाणी अनिवार्यतः प्राण-रस से अभिषिक्त रहती थी। इस प्रकार उनका काव्य सहज रसमय काव्य था—कोरा सिद्धान्तवाद नहीं।

अपने उपर्युक्त आलोचक मन में कुछ इसी प्रकार की धारणाएं लेकर मैं मदमस्त यौवन के उस कवि का व्यक्ति-दर्शन करने गया। उस समय तक मैं पंत के अंतर्मुख एवं सौम्य-मधुर व्यक्तित्व के कोमल सम्पर्क में आ चुका था निराला की मुक्तकुंतल विराट पुरुष-मूर्ति के अभिभूत करनेवाले प्रभाव को आत्मसात् कर चुका था महादेवी की कविता के रंगीन रंगों और उनके व्यक्तित्व एवं वेशभूषा की सादगी के बीच सामंजस्य स्थापित कर चुका था अपनी सहज सामान्यता में असामान्य गुप्त-बंधुओं के व्यक्ति भेद को मन और बुद्धि की आंखों से अलग-अलग कर देख चुका था। पर आज मैं इन सबसे भिन्न कवि के सामने बैठा था। इस कवि की शरीर-संपत्ति आकर्षक थी उसे देखकर अनायास ही कामायनी की पंक्तियों का स्मरण हो आया

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।

ऐसा नहीं था कि वे अपनी इस शरीर-संपत्ति से अवगत न हों—किन्तु उनके मन की मस्ती इतनी प्रबल थी कि सचेत होने पर भी वे उसके प्रति विशेष ध्यान देने में असमर्थ थे। उनके शुभ्र धवल-आनन की संवारी हुई कालिमा जहां इस बात का आभास देती थी कि वह स्वरूप की भावना से सर्वथा मुक्त नहीं है वहां उनका घुटनों तक का जाँघिया इस रहस्य का उद्घाटन कर रहा था कि अंततः चीज उनके अलमस्तपन की ही होती है। सुरुचि के संस्कारों से वह पर रिक्त नहीं है परन्तु मस्ती का गुण उन्हें उन सबकी उपेक्षा करने के लिए लाचार कर देता है। उनके व्यक्तित्व में सामान्यता नहीं थी किन्तु सहृदयता भरपूर थी। मैं काफी देर तक 'नवीन' जी से बात करता रहा—हिन्दी कविता

के विषय में और स्वयं उनकी कविता के विषय में भी। जहाँ तक मुझे स्मरण है वे सुनते ही अधिक रहे बोले कम। मैं उनके काव्य से प्रभावित था उसमें अभिव्यक्त तारुण्य का आवेग—शृंगार और वीर दोनों रूपों में—मुझे सहज आकृष्ट करता था। किन्तु छायावादी कला का अभ्यस्त मेरा मन उनकी अभिव्यंजना से सन्तुष्ट नहीं था। उसमें शक्ति और ओज था पर उसको सँवारनेवाला कलात्मक संयम कदाचित् अभीष्ट मात्रा में नहीं था—मैंने अपना मन्तव्य बिना किसी दुराव-छिपाव के उनके सामने व्यक्त कर दिया। बोले हाँ भई, यह है—तुम जैसे तरुण आलोचकों को इस दिशा में मार्ग-दर्शन करना चाहिए। मैंने तुरन्त ही सजग होकर उनकी मुखाकृति की ओर देखा कि कहीं मेरी उस अनधिकार आलोचना पर उन्होंने व्यंग्य तो नहीं किया—किन्तु उस मुक्त दृष्टि में कहीं भी वक्रता नहीं थी।

फिर मैंने उनसे कविता-पाठ के लिए निवेदन किया। उन्होंने कुछ शृंगार के गीत और कुछ राष्ट्रीय कविताएं मुझे सुनाईं। उस स्वर में अपूर्व आकर्षण था—काव्य-पाठ करते समय उनका व्यक्तित्व एक विशेष रस-दीप्ति से मण्डित हो उठता था। उनका स्वर-संधान जहाँ हृदय के कवित्व का बाहर की ओर संप्रेषण करता था वहाँ अर्धनिमीलित आँखें उस बहिर्गत रस को फिर से प्राणों की ओर खींचने का प्रयास-सा करती थीं। काव्य का शब्दार्थ जैसे दूसरी बार प्राणों के रस से अभिषिक्त हो उठता था। उनके उस तन्मय काव्य-पाठ को देख-सुनकर अनायास ही संस्कृत काव्यशास्त्र की इस मान्यता का खण्डन हो जाता था कि 'कविः करोति काव्यानि रसं जानाति पण्डितः'। जिस प्रकार नदी का उन्मद प्रवाह कुछ कंकड़-पत्थरों को भी सहज रूप में बहा ले जाता है उसी प्रकार उनकी स्फीत वाग्धारा में दो चार अनगढ़ शब्द अलक्षित ही बह जाते थे। मैं कवित्व के मूर्त और अमूर्त रूप का साक्षात्कार कर आत्म-विभोर हो गया और प्रणाम कर लौट आया। अपने युग में नवीनजी का काव्य-पाठ वास्तव में अप्रतिम था। संगीत का भी उन्हें ज्ञान था और क्रमशः वे उसकी ओर बढ़ने लगे थे। बाद में जाकर उनका काव्य दर्शन से और काव्य-पाठ संगीत से बोझिल होने लगा था—एक में प्राणों की मस्ती और दूसरे में वाणी का मुक्त प्रसार घटने लगा था। मैंने कई बार उनके पूर्व रूप को उद्बुद्ध करने की चेष्टा भी की किन्तु उस समय तक दर्शन और संगीत के मोह ने उनके मन और वाणी को काफी पकड़ लिया था इसलिए कोई लाभ नहीं हुआ। उनके काव्य रसिकों को मेरी ही तरह इससे निराशा होती थी किन्तु वे अपनी ऊर्जस्वित रचनाओं को भी आग्रहपूर्वक गाकर ही पढ़ते थे। और, अन्त में तो दैव के विपाक से केवल अन्तस्संगीत ही शेष रह गया—वाणी का ओज और प्रसार दोनों ही कुण्ठित हो गए।

२ (दिल्ली—१९५९)

दूसरा चित्र दिल्ली के साहित्यिक जीवन की एक करुण-मधुर घटना से सबद्ध है। ८ दिसम्बर १९५९ को दिल्ली के साहित्यकारों की ओर से नवीन जी की ६१वीं वर्षगाँठ मनाने का आयोजन किया गया। व्यवस्था का भार प्रांतीय सम्मेलन के प्रधानमंत्री श्री गोपालप्रसाद व्यास ने संभाला और गांधी-उद्यान में कवि के गौरव के अनुरूप अभिनन्दन-समारोह रचा गया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त सभापति थे और दिल्ली के प्रायः सभी साहित्यकार उपस्थित थे। कार्यक्रम लम्बा और वक्ताओं की सूची बहुत बड़ी थी। नवीनजी का स्वास्थ्य तब तक काफी बिगड़ चुका था—वाणी सर्वथा कुण्ठित हो चुकी थी—शरीर और हृदय दुर्बल हो गए थे देर तक बैठने के लिए डाक्टरों की अनुमति नहीं थी। इसलिए कार्यक्रम के सञ्चालन का दायित्व मैंने अपने ऊपर ले लिया। इस अभिनंदन में उल्लास का वातावरण नहीं था—एक विषाद की छाया मैं कहना चाहूंगा कि आसन्न मृत्यु की छाया सर्वत्र विद्यमान थी। मुझे भय था कि कार्यक्रम का स्वरूप कहीं भावात्मक से अभावात्मक न हो जाय अर्थात्—अभिनंदन और मंगल-कामना के स्थान पर अमंगल के निवारण की कामना ही कहीं प्रमुख न हो जाए। हुआ भी वही और प्रयत्न करने पर भी मैं सत्य पर आवरण न डाल सका। वास्तव में कवि की स्थिति उस समय ऐसी थी कि उसे देखते हुए दीर्घायु की कामना आत्म प्रवंचना-मात्र होती!

नवीन जी श्री मैथिलीशरण गुप्त के पास मसनद के सहारे कालीन पर बैठे हुए थे। उनके आसपास अनेक वरिष्ठ जन आसीन थे। वेश आदि भी उनका वही चिर-परिचित था शरीर पर सुन्दर सिली हुई शेरवानी और सिर पर वही बंकिमा के साथ धारण की हुई गांधी टोपी जिसमें से दोनों ओर उनके शुभ्र केश-गुच्छ अलग दिखाई दे रहे थे। वे सामान्यतः प्रसन्न थे फिर भी लगता था मानो उनकी आत्मा का अतुल प्रकाश विलीन हो गया है—उस पुरुष शरीर की रूपरेखा तो पूर्ववत् स्पष्ट थी किन्तु रंग जैसे पीला पड़ गया था। उनकी वह तेजोदीप्त दृष्टि अन्तर्मुख हो गयी थी और मन के भावों की निर्गम व्यंजना केवल 'हरे राम' में सिमटकर रह गई थी। कवि दिनकर ने अभिनंदन पत्र पढ़ा जिसमें कवि योद्धा और मनीषी का एकत्र स्तवन था। दिनकर की ओजस्वी वाणी से वातावरण कुछ बदला—अभिनन्दन के अनुरूप ओज का सञ्चार हुआ किन्तु जिस समय वे अभिनन्दन-पत्र समर्पित कर चरण-स्पर्श के लिए झुके नवीनजी की अवरुद्ध भावुकता सहसा उद्भिन्न हो गई। इस घटना का प्रभाव दुर्निवार था—सबकी आँखें छलछला उठीं [illegible] दद्दा—श्री मैथिलीशरण गुप्त अपने आंसुओं को न संभाल सके अन्य वरिष्ठ जन भी विचलित हो उठे। दिल्ली के साहित्यिक जीवन में यह एक अपूर्व घटना थी। दिल्ली के राष्ट्रीय [illegible] की

तीन विकास-रेखाएँ मानो एक शाप-बिन्दु पर आकर अनायास ही मिल गई थीं। दिनकर के साथ अनेक वक्ताओं ने श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं—किन्तु करुणा का वह भीना पट हट नहीं सका—वरन् और भी गाढ़ा हो गया जबकि स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने आवेश में आकर यह प्रार्थना की कि भगवान् उनकी आयु का कुछ अंश नवीनजी को प्रदान कर दे। भगवान् ने कदाचित् उनकी प्रार्थना का पूर्वार्ध ही सुना—और आचार्य जी की आयु सचमुच नवीनजी से पूर्व ही निःशेष हो गई।

३ (*महायात्रा*)

अन्त में है कवि की महायात्रा का करुण दृश्य! जैसाकि श्री दिनकर ने अपने मार्मिक संस्मरण में लिखा है, नवीनजी के जीवन के अन्तिम तीन वर्ष मृत्यु के साथ निरन्तर संघर्ष में बीते। अनेक भीषण रोगों ने मिलकर उनपर प्रहार किए—हृद्रोग रक्तचाप पक्षाघात मर्म और अन्त में कदाचित् फेफड़े का कैंसर। आरंभ के प्रहारों को तो उन्होंने अपने सहज मुक्त भाव से झेला किन्तु पक्षाघात ने जब उनकी वाणी को कुण्ठित कर दिया तो मुझे लगा कि उनका मन भी हारने लगा। वाणी और अर्थ का कितना अविच्छिन्न संबंध है मन ही वाणी को प्रभावित नहीं करता वाणी भी मन पर अनिवार्य प्रभाव डालती है। काव्यशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में मेरा यह अपना विषय रहा है स्फोट-विवेक के अनेक आचार्यों ने गम्भीर तर्कों के द्वारा इस तथ्य की प्रामाणिक स्थापना की है। बुद्धि द्वारा गृहीत यह सत्य नवीन जी को देखकर अनायास ही मेरे घट में उतर गया। अभिव्यक्ति का अभाव उनके मन में एक विचित्र प्रकार की घुटन और कुंठा पैदा करने लगा और जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि वाणी अब नहीं लौटेगी तो पहली बार उस योद्धा ने जैसे मृत्यु के सामने हथियार डाल दिए। रोग के तीसरे आक्रमण के बाद मित्रों के कुशल-प्रश्नों के उत्तर में फिर वे यही कहते थे—"हाँ भाई कुछ है नहीं।" हिन्दी संसार में नवीन जी को वाणी का अपूर्व वरदान प्राप्त था—वैसी वाग्मिता वह स्वर-संपदा कंठ की वह ऊर्जा अन्यत्र दुर्लभ थी। मैंने एक बार एक विराट सभा में हिन्दी की गरिमा पर उनका भाषण सुना था—प्रधानमंत्री के कुछ वाक्यों से सहसा वे उत्तेजित हो उठे थे। ऐसा लगता था जैसे पाटलिपुत्र की जाह्नवी में बाढ़ आ गई हो। इस प्रकार के और भी कई चित्र मेरी स्मृति में भास्वर थे। ऐसी भूमिका में जब मैं उन्हें असहाय होकर शब्दों के साथ जूझकर बार-बार हारते देखता था तो मन को बड़ी चोट लगती थी। उनका मन रखने के लिए हम लोग भी कभी-कभी उसी प्रकार मौन का अभिनय करते थे तो वे बड़े जोर से हँस पड़ते थे। एक बार 'भारती-संगम' की

विचार-गोष्ठी में 'साहित्यिक' की परिभाषा के विषय में कुछ विवाद हो गया। मैंने अपने मत को कुछ अधिक उग्रता के साथ व्यक्त करते हुए कहा—"मुझे संदेह है कि विनोबाजी की रचनाएं भी शुद्ध साहित्य की परिधि में आ सकेंगी या नहीं?" यह सुनकर वे एकदम भड़क उठे और बोले—"तुम—तुम—तु क्या बक रहे हो।" अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अभिव्यक्ति के अभाव में आवेश की मात्रा उनमें और भी बढ़ गई थी—कभी-कभी वे ज़रा ज़रा पर भी जिसको कि वे आम तौर नियमित रूप से बरदाश्त करने से, बिना किसी कारण के नाराज़ हो जाते थे। परन्तु उनका यह क्रोध देर तक स्थायी न रह कर तब तक करुणा का संचारी बन चुका था और हम सबने उनसे विवाद न करने का संकल्प कर लिया था। धीरे-धीरे स्थायी प्रतिक्रिया उनके आवेश को देखकर बहुत कुछ वैसी ही होने लगी थी जैसी कि किसी बालक के आवेश को देखकर उसके परिजनों के मन में होती है। गोष्ठी में उनके आवेश-भरे वाक्यों को सुनकर हम सब लोग हंस पड़े और वे भी यह कहते हुए बैठ गए—'यह बड़ा 'बक' कुछ है।"

रोग का अन्तिम आक्रमण उनको लेकर ही गया। वे कई महीने विलिंगडन अस्पताल में रहे। हम लोग नियमित रूप से उनके पास आते-जाते रहते थे। बीच में वे कुछ ठीक भी हुए परन्तु प्रयत्न करने पर भी अस्पताल से बाहर नहीं आए। कोई एक महीने से उनकी हालत ज़्यादा बिगड़ने लगी और मुख तथा शरीर के अन्य अंगों पर लकवे का असर प्रकट हो गया। एक दिन रात को जब मैं गया तो बोले कि अब तो चल-चलाव के दिन हैं। मैंने अपने और उनके मन को ढाढ़स देने का निष्फल प्रयत्न किया और कुछ देर बाद लौट आया। उस दिन रात को मुझे नींद नहीं आई। उनके जीवन से संबद्ध अनेक स्मृति-चित्र अपने परिवार के कुछ इसी प्रकार के करुण दृश्य एवं परिजन के स्वास्थ्य के विषय में अनेक आशंकाएं तरह-तरह के भयावह रूप धारण कर मेरी चेतना को त्रास देती रहीं। फिर मैं अस्पताल नहीं गया—२९ अप्रैल '६० को अकस्मात् ही उनके घर ही पहुंचा—नवीन जी के नहीं, नवीन जी के शव के दर्शन करने के लिए। उनका शव ५, विण्डसर प्लेस में उनके चिरपरिचित निवास-स्थान के बरामदे में रखा था। देश के मूर्धन्य नेता अपने उस अभिन्न सहकर्मी के प्रति श्रद्धांजलि भेंट करने के लिए आ-जा रहे थे—राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, गृहमंत्री आदि। कुछ देर तक भावमग्न मुद्रा में शव के सामने खड़े होकर फिर उनके संस्कार के विषय में आवश्यक निर्णय करने के लिए घर के भीतर चले गए। बड़े लोग जब चले गए तो श्री जगदीशचन्द्र माथुर के साथ मैं आगे बढ़ा। इतने पास पर मैंने नवीन जी का चरण-स्पर्श तो कर लिया परन्तु उनके मुख की ओर देखने का मेरा साहस न हुआ। [illegible]

मुझे अपने सुख-दुःख की सार्वजनिक अभिव्यक्ति अच्छी नहीं लगती और मैं ऐसे अवसर को या तो बचा जाता हूं या संयम से काम लेता हूं। किन्तु इस समय मेरे लिए इन दोनों में से कोई भी विकल्प संभव नहीं था और मैंने अपने मन में कहा कि मानव होकर मानव-दुर्बलता की स्वीकृति से क्या डरना।

कुछ समय में ही यह निर्णय कर लिया गया कि नवीन जी का अन्तिम संस्कार उनकी कर्म-भूमि कानपुर में होगा। इस विषय में कदाचित् कुछ मत-भेद था जो परिजनों की परिधि से बाहर निकलकर मित्र-मंडल तक फैल गया था। मेरी अपनी धारणा थी कि यह आन्तरिक प्रश्न है जिसका समाधान नवीन जी के परिवार को ही करना चाहिए किन्तु कुछ मित्रों का आग्रह था कि नवीन जी का व्यक्तित्व सार्वजनिक है इसलिए उनके अन्तिम संस्कार के प्रश्न का समाधान भी सार्वजनिक होना चाहिए। स्थिति को देखते हुए मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था तभी सौभाग्य से समर्थ व्यक्तियों ने शीघ्र ही निर्णय कर यह घोषणा कर दी कि रात को आठ बजे की गाड़ी से कवि का शव कानपुर के लिए प्रस्थान करेगा। अपने को अनधिकारी मानते हुए भी मेरे मन ने कहा कि निर्णय ठीक ही हुआ और मैं ६ नार्थ एवेन्यू चला गया। गुप्त जी इसके कुछ पहले ही भीषण रोग-ग्रस्त हो चुके थे। उस समय स्वयं रुग्ण होते हुए भी नवीन जी ने उनकी परिचर्या में बड़ी भाग-दौड़ की थी। डाक्टरों का अब भी यही आदेश था कि जहां तक हो उन्हें शरीर और मन के श्रम से बचाया जाए। इसलिए अनेक मित्रों और स्वजनों की राय थी कि वह स्टेशन न जाएं। मुझको भी उनके स्वास्थ्य की चिन्ता किसी से कम नहीं थी किन्तु फिर भी यह बात मेरे मन में नहीं बैठती थी कि नवीन जी की उस अन्तिम विदा-वेला में मैथिलीशरण गुप्त उपस्थित न हों। मेरे अतिरिक्त एक व्यक्ति और था जो मेरी ही तरह सोच रहा था पर कह नहीं पा रहा था—वह था गुप्त जी का आत्मज चिरंजीव उर्मिलाचरण जिसका नवीन जी के प्रति अगाध अनुराग था। उसने तुरन्त ही भवन में जाकर मुझसे कहा—"डाक्टर साहब क्या यह ठीक है ?" उसके इस प्रश्न से मेरे मन की दुविधा एक क्षण में विलीन हो गई और मैंने आश्वस्त होकर उत्तर दिया—"नहीं दद्दा को वहां जाना चाहिए।" दद्दा बेचारे बेबस होकर मित्रों का यह सत्परामर्श सुन रहे थे। ज्योंही मैंने अपना मत व्यक्त किया फड़ककर बोले— "बिल्कुल ठीक है—हमें जाना चाहिए और हम जाएंगे।" सात बजे हम लोग स्टेशन पहुंच गए। दिल्ली का अपार जन-समुदाय स्टेशन पर उमड़ पड़ा था। छोटे-बड़े सभी साहित्यकार, हिन्दी-सेवी अनेक राज-पुरुष और राजनीतिक नेता आदि तो थे ही इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक अनजाने व्यक्ति भी वहां खड़े रो रहे थे जिनका न साहित्य से संबंध था न संस्कृति से, न राजनीति से—जो केवल मानव होने के नाते नवीन जी के आत्मीय बन गए

थे। पुष्पों से सजा नवीन जी का अस्थि-शेष शरीर गाड़ी के डिब्बे में रख दिया गया। समवेत जन एक-एक कर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने लगे और जब गाड़ी के चलने में थोड़ी देर रह गई तो हम लोगों ने सहारा देकर पुष्पों को डिब्बे में चढ़ाया। कुछ क्षण मौन हुए—कदाचित् उसी समय उनकी कवि चेतना में निम्नलिखित पंक्तियों का मूल भाव स्फुरित हो गया था

कहाँ आज वह बंधु हमारा,
जिसके मानस की रस-धारा,
आप्लावित करती थी हमको।
उससे श्रद्धांजलि की आशा,
रखती थी मेरी अभिलाषा,
अनहोनी ही प्रिय है यम को!

हम लोगों ने भी अन्तिम बार उनकी पद-वंदना की और कुछ ही देर में गाड़ी पटरी पर रेंग उठी। सारा प्लेटफ़ार्म नवीन जी के जय-जयकार से गूँज उठा।

नवीन का आज कीर्ति-शेष रह गया है। समय ने उनके विरह का भाव तो बहुत कुछ दूर किया है। अभी कुछ दिन पहले उनके विषय में चर्चा हो रही थी। एक भावुक मित्र ने उनके जीवन-काल में ही कहा था कि वे महामानव थे। इसपर एक तथ्यदर्शी आलोचक ने सन्देह प्रकट किया था कि क्या मानव चरित्र के एक ही स्तर में वे मुक्त थे? आज मैं सोचता हूँ कि वस्तु-सत्य क्या है! और मेरा हृदय ही नहीं बुद्धि भी यह उत्तर देती है कि इन दोषों के अभाव में तो वे मानव ही न रहते। विभिन्न दुर्बलताओं व महान् गुणों के साथ सुन्दर प्रकृति के समस्त दोषों के समवाय का नाम है मानव—और यदि महामानव का अस्तित्व इस संसार में है तो वह नवीन मानव का कलेवर या महत्तर रूप ही हो सकता है। वास्तु-सुन्दर महान् मानव थे नवीन। मैं महामानव का इससे अधिक शुद्ध स्वरूप नहीं कर सकता—और ऐसे व्यक्ति मैंने अपने जीवन में कम ही देखे हैं जिनका यह महत्त्व नवीन जी से अधिक गहरा देखा हो।

० ० ०

परिशिष्ट

जीवन-परिचय

पूरा नाम, साहित्यिक उपनाम सहित—	—नगेन्द्र
पिता का नाम—	—पं० राजेन्द्र
परिवार तथा पूर्वजों का संक्षिप्त परिचय—	—पूर्वज—पश्चिमी उत्तरप्रदेश के सनाढ्य ब्राह्मण—अध्ययनगाढ्य व्यवसाय जमींदारी। पिता—आर्यसमाजी लेखक और नेता। परिवार—माता-पिता के अतिरिक्त पत्नी तथा दो पुत्रियां —(१) डा० सुषमा प्रियदर्शिनी एम० ए० पी० एच० डी० विवाहित प्राध्यापिका इन्द्रप्रस्थ कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली (२) प्रतिभा प्रियदर्शिनी—एम० ए० हिन्दी प्राध्यापिका—लेडी श्रीराम कॉलिज फॉर वीमेन। जामाता—श्री विष्णु प्रकाश पाराशर, अधिशासी अभियंता (एग्जिक्यूटिव इंजीनियर) केन्द्रीय लोक-सेवा विभाग दिल्ली।
जन्मस्थान—	—अतरौली (अलीगढ़) यू० पी०।
जन्मतिथि—	—(विक्रमी और ई०) चैत्र कृष्णा ६ संवत् १९७१ विक्रमी। मार्च १९१५ ई०।
शिक्षा—	—(स्थान—अतरौली अनूपशहर, चन्दौसी आगरा) एम० ए० हिन्दी (नागपुर वि० वि० १९३७) एम० ए० अंग्रेजी (सेंट जान्स कालेज आगरा—१९३६) डी० लिट्० (हिन्दी) (१९४६-'४७ आगरा वि० वि०)।

प्राप्त उपाधियाँ, सम्मान, पदक आदि—	—(१) [illegible] पुरस्कार, (२) उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति पुरस्कार, (३) मध्य प्रदेश हिन्दी परिषद् पुरस्कार।
पद—	—(१) अधिष्ठाता (डीन) कला संकाय दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली (१९५८ १९६०) (२) अध्यक्ष मानव की शोध मंडल (चेयरमेन बोर्ड ऑफ रिसर्च स्टडीज इन ह्यूमेनिटीज दिल्ली वि० वि० दिल्ली)।
व्यवसाय एवं जीविका—	—अध्यापन अध्यक्ष हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।
अन्य साहित्यिक सेवाएं—	—प्रायः सभी प्रकार की विशिष्ट हिन्दी संस्थाओं एवं भारत सरकार की हिन्दी समितियों की सदस्यता के माध्यम से साहित्यिक सेवा का अवसर प्राप्त।
अन्य उल्लेखनीय सामाजिक तथा राजनीतिक काम—	—सामाजिक तथा राजनीतिक सेवा-कार्य के प्रति आरम्भ से ही एक प्रकार की विरक्ति-सी रही है।
अप्रकाशित रचनाओं के नाम—	—(१) भारतीय रसशास्त्र (अपूर्ण)
प्रकाशित प्रमुख लेखों की सूची—	—प्रायः सभी लेख पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

ग्रंथ

(प्रकाशित पुस्तकों की सूची)

पुस्तकों का नाम	प्रकाशक	लेखन-प्रकाशन तिथि
मौलिक		
सुमित्रानन्दन पंत	साहित्य रत्न भंडार, आगरा।	१९३८ ई
साकेत : एक अध्ययन	"	१९३९ ई
आधुनिक हिन्दी नाटक	"	१९४० ई०
विचार और अनुभूति	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।	१९४४ ई०
विचार और विवेचन		१९४९ ई०
रीतिकाव्य की भूमिका	प्रथम संस्करण—गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली। द्वितीय संस्करण—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।	१९४९ ई०
देव और उनकी कविता	प्रथम संस्करण—गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली। द्वितीय संस्करण—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।	१९४९ ई०
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।	१९५१ ई०
विचार और विश्लेषण		१९५५ ई०
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (दूसरा भाग)	ओरिएण्टल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली।	१९५५ ई०
अरस्तू का काव्यशास्त्र	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।	१९५७ ई०
काव्य में उदात्त तत्व ('दि सब्लाइम' का हिन्दी अनुवाद)	राजपाल एण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली।	१९५८ ई०
अनुसंधान और आलोचना	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।	१९६१ ई०

प्राप्त उपाधियाँ, सम्मान, पदक आदि—	—(१) डालमिया पुरस्कार, (२) उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति पुरस्कार, (३) मध्य-प्रदेश हिन्दी परिषद् पुरस्कार।
पद—	—(१) अधिष्ठाता (डीन) कला संकाय दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली (१९५८-१९६०) (२) अध्यक्ष मानविकी शोध मंडल (चेयरमैन बोर्ड ऑफ रिसर्च स्टडीज इन ह्यूमैनिटीज, दिल्ली वि० वि० दिल्ली)।
व्यवसाय एवं जीविका—	—अध्यापन अध्यक्ष हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।
अन्य साहित्यिक सेवाएँ—	—प्रायः सभी प्रकार की विशिष्ट हिन्दी संस्थाओं एवं भारत सरकार की हिन्दी समितियों की सदस्यता के माध्यम से साहित्यिक सेवा का अवसर प्राप्त।
अन्य उल्लेखनीय सामाजिक तथा राजनीतिक कार्य—	—सामाजिक तथा राजनीतिक सेवा-कार्य के प्रति प्रारम्भ से ही एक प्रकार की विरक्ति-सी रही है।
अप्रकाशित रचनाओं के नाम—	—(१) भारतीय रसशास्त्र (अपूर्ण)
प्रकाशित प्रमुख लेखों की सूची—	—प्रायः सभी लेख पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

ग्रंथ

(प्रकाशित पुस्तकों की सूची)

पुस्तकों का नाम	प्रकाशक	लेखन-प्रकाशन तिथि
मौलिक		
सुमित्रानंदन पंत	साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।	१९३८ ई०
साकेत : एक अध्ययन	"	१९३९ ई०
आधुनिक हिन्दी नाटक		१९४० ई०
विचार और अनुभूति	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।	१९४४ ई०
विचार और विवेचन		१९४८ ई०
रीतिकाव्य की भूमिका	प्रथम संस्करण—गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली। अन्य संस्करण—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।	१९४९ ई०
देव और उनकी कविता	प्रथम संस्करण—गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली। अन्य संस्करण—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।	१९४९ ई०
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।	१९५१ ई०
विचार और विश्लेषण	"	१९५५ ई०
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (दूसरा भाग)	ओरियण्टल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली।	१९५५ ई०
अरस्तू का काव्यशास्त्र	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।	१९५७ ई०
काव्य में उदात्त तत्त्व ('पेरि हुप्सुस' का हिन्दी अनुवाद)	राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली।	१९५८ ई०
अनुसंधान और आलोचना	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।	१९६१ ई०

संपादित

हिन्दी ध्वन्यालोक	गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली।	१९५२ ई०
कवि भारती (आधुनिक काव्य संग्रह)	साहित्य सदन चिरगांव (झांसी)।	१९५३ ई०
हिन्दी काव्यालंकारसूत्र	आत्माराम एंड संस कश्मीरी गेट, दिल्ली।	१९५४ ई०
रीति शृंगार (रीतिकालीन काव्य-संग्रह)	प्रथम संस्करण—गौतम बुक डिपो नई सड़क दिल्ली। अन्य संस्करण—साहित्य सदन चिरगांव (झांसी)।	१९५४ ई०
हिन्दी वक्रोक्तिजीवित	आत्माराम एंड संस कश्मीरी गेट दिल्ली।	१९५५ ई०
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई सड़क, दिल्ली।	१९५६ ई
भारतीय नाट्य-साहित्य	सेठ गोविन्ददास हीरक जयंती समारोह समिति नई दिल्ली।	१९५५ ई०
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)	नागरी प्रचारिणी सभा काशी।	१९५८ ई
भारतीय वाङ्मय	साहित्य सदन चिरगांव (झांसी)।	१९५८ ई
इण्डियन लिट्रेचर (अंग्रेजी)	लक्ष्मीनारायण अग्रवाल हास्पिटल रोड आगरा।	१९५९ ई०
हिन्दी अभिनवभारती	हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।	१९६० ई०
हिन्दी काव्य प्रकाश	ज्ञानमंडल लिमिटेड वाराणसी	१९६० ई०

० ० ०